<u>प्रथम अध्याय</u>

राष्ट्र, राष्ट्रीयता एवं काव्यभाषा का स्वरूप एवं उपादान

(क) राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता

- राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति
- राष्ट्रीयता
- राष्ट्रीयता के पोषक तत्त्व
- राष्ट्रीयता का विकास
- विश्व में राष्ट्रीयता का विकास
- भारत में राष्ट्रीयता का विकास
- हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता का विकास

(ख) काव्यभाषा का स्वरूप एवं उपादान

- काव्य
- भाषा
- काव्यभाषा का स्वरूप
- काव्यभाषा के भेद-

1.शास्त्रीय काव्यभाषा 2. राष्ट्रीय काव्यभाषा

(ग) शास्त्रीय काव्यभाषा-

- काव्य तत्त्व
- काव्य हेतु
- काव्य प्रयोजन
- काव्य लक्षण
- काव्य गुण
- काव्य दोष
- रस
- छंद
- अलंकार

- ध्वनि सिद्धांत

  -शब्द-शक्ति

(घ) राष्ट्रीय काव्य भाषा

(च) कवि का व्यक्तितत्व और भाषा का संबंध

प्रथम अध्याय

(क) राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता

राष्ट्र मानव जाति के उस बहुत बड़े समूह को कहते हैं जो जाति, धर्म, भाषा, स्थान, सभ्यता अथवा संस्कृति जैसी किसी भी विशेषताओं के आधार पर या अन्य किसी और समान विशेषताओं के आधार पर एक हों और एक साथ रहने में अपने जीवन और संस्कृति आदि को सुरक्षित समझते हों तथा एक सामूहिक भावना से काम करते हों। जिस प्रकार माता के रक्त से शिशु के रक्त का संबंध होता है ठीक उसी प्रकार से वसुधारा रूपी मां से मानव शिशु के रक्त का संबंध सदियों से चला आया है। राष्ट्र का आधार एक निश्चित भू-भाग होता है, इसी कारण 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना जन्म लेती है। इसका अर्थ है जननी और जन्मभूमि दोनों का ही स्थान स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है एवं महान है। हमारे वेद पुराण तथा धर्म ग्रंथ सदियों से दोनों की महिमा का बखान करते रहे हैं। इस संदर्भ में महाकवि इकबाल का एक गीत भारत में बहुत प्रचलित है -

'सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्तान हमारा,

हम बुलबुले हैं इसकी , यह गुलिस्ताँ हमारा।'

वहीं राष्ट्रकवि 'मैथिलीशरण गुप्त' जी ने भी मातृभूमि की वंदना में अत्यंत सुंदर पंक्तियां लिखी हैं-

"नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है,

सूर्य चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।

नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मंडन है,

बंद जन खगवृंद, शेषफन सिंहासन है

करते अभिषेक पयोद है बलिहारी इस वेश की,

हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की"[1]

जिस भूमि पर व्यक्ति का जन्म होता है वह भूमि उसके लिए सर्वोपरि होती है। वह चाहे किसी भी चकाचौंध में चला जाए अंततः उसे अपनी जन्मभूमि की याद आ ही जाती है। यही अपने राष्ट्र के साथ लगाव है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दूई बिघा जमीं' में यही दर्शाया गया है-

"भूधरे, सागरे, विजने, नगरे, जखने, जेखाने भ्रमि।

तबू निशिदिन भूलिते पारी नि सेई बीघा दुई जमि।"[2]

भगवान राम भी लक्ष्मण के लंका में रहने के आग्रह को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि स्वर्णमयी और सुंदर लंका उन्हें आकृष्ट नहीं करती उन्हें अपनी जन्मभूमि अयोध्या वापस जाना है।

भूमि मनुष्य की रक्षा करती है और अपनी भूमि का मनुष्य रक्षक है। रक्षा के इसी दायित्व को जब समाज ने ग्रहण किया तभी से राष्ट्र अस्तित्व में आया फिर धीरे-धीरे उसका विकास हुआ। शुरू-शुरू में कुछ लोगों से मिलकर परिवार बना होगा फिर परिवार से मिलकर कुल बना। इसके साथ-साथ उनमें सामुदायिक मनोभावना का विकास हुआ। तत्पश्चात कुलों से मिलकर कबीला बना फिर जब कबीलों का संयुक्त रूप निश्चित स्थान पर बसा तो राज्य बना तथा राज्य पर शासन द्वारा प्रभुत्व स्थापित करने के राजनैतिक चेतना का विकास हुआ जो राष्ट्र के निर्माण में सहायक हुआ।

"अथर्ववेद में 'भूमिसूक्त' में सत्य, बृहत्, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्मा और यज्ञ ये सात राष्ट्र को धारण करने वाले तत्व माने गए हैं।"[3]

इसी मत में डॉ. नगेंद्र के शब्दों में, "जब मनुष्य के राग का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम, ग्राम से नगर, फिर प्रदेश-देश और इसके आगे विश्व तक व्याप्त हो जाता है। यह वास्तव में स्व का विस्तार ही है, उसका निषेध नहीं है।"[4]

- **'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति**

राष्ट्र की समृद्धि, उसके प्रति श्रद्धा और आस्था की भावना, प्रेम एवं राष्ट्र की प्रगति करना राष्ट्रीयता कहलाती है। परंतु राष्ट्रीता ने भी

अपने अंदर राष्ट्र शब्द को समाहित किया है इसलिए राष्ट्र की उत्पत्ति पर विचार करना जरूरी है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में राष्ट्र 'शब्द' की व्युत्पत्ति "सर्वधातुभ्य: ष्ट्रन' उणादि प्रत्यय के संयोग से 'रासृ शब्दे' अथवा ' राजृशोभने' धातु से यह शब्द बनता है। इसके अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ - रासन्ते चारुशब्दं कुर्वते जन: यस्मिन प्रदेशे तद राष्ट्रम।"[5] अर्थात् जिस प्रदेश के लोग विशिष्ट भाषा के द्वारा विचार विनिमय करते हैं वह स्थान विशेष राष्ट्र कहलाता है।

"राष्ट्र एक प्राचीन शब्द है जिसका प्रयोग यजुर्वेद, अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।"[6]

"राष्ट्र का अंग्रेजी पर्यायवाची 'नेशन' लैटिन (नेट्स) से बना है, जिसका अर्थ उस भाषा में उत्पन्न होता है।"[7]

राष्ट्र शब्द की अवधारणा आधुनिक नहीं है। प्राचीन समय में भी 'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख हमें देखने को मिलता है। विश्व के अत्यंत प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्वेद' के दसवें मंडल में भी इसका उल्लेख मिलता है जिसमें राष्ट्र के मुख्य पुरोहित राजा को अभिषेक करने के उपरांत उसको उपदेश तथा आदेश देता है-

"इह राष्ट्रमु धारय"[8]

-(ऋग्वेद, मंडल 10 सूक्त 173/2)

"यजुर्वेद में राष्ट्र शब्द की पुनरुक्ति हुई है और अनेक बार 'राष्ट्र में देहिं' और 'राष्ट्रदा राष्ट्रम्मेदत्त' कहकर राष्ट्र प्राप्ति की उत्कट कामना प्रकट की गयी है।"[9]

"अथर्ववेद की राष्ट्र- समृद्धि के निमित्त की गयी अधोलिखित प्रार्थना उल्लेखनीय है-

"तेनास्मान ब्राह्मणस्पतेऽमि राष्ट्राय वर्धेये

राष्ट्राय मध्यम वध्यतां......"[10]

प्राचीन संस्कृत काव्य में ही राष्ट्र शब्द का उल्लेख निम्नलिखित वाक्य में प्राप्त होता है- "पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ता एक राष्ट्र और पशुधान्य हिरणन सम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम।" [11]

"ऐतरेय ब्राह्मण में भी राष्ट्र शब्द का उल्लेख देखने को मिलता है- "राष्ट्राणि वै विश:"[12] जिसका अर्थ यह है कि राष्ट्र का निर्माण लोग करते हैं। इन प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण,तैत्तिरीय संहिता, मनुस्मृति आदि में भी राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

"राष्ट्र शब्द के विविध अर्थ हैं- देश, राज्य, मंडल, प्रांत, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आत्मीयता से पूर्ण जन समुदाय, अनेक लोग, राज कारोबार आदि।"[13]

अंत में हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्र शब्द का साधारण शब्दों में जो अर्थ हमारे सामने आता है वह है लोगों का एक बड़ा समूह जो एक संस्कृति को मानते हैं, एक भाषा बोलते हैं एक इतिहास से जुड़े होते हैं और एक क्षेत्र या देश में रहते हैं।

भारतीय विचारकों के दृष्टिकोण में 'राष्ट्र' की परिभाषा

महर्षि वाल्मीकि के अनुसार, राजा राष्ट्र को सत्य एवं धर्म पर चलाता है। वाल्मीकि जी कहते हैं, "राष्ट्र वह लोक समुदाय है, जो एक विशेष भू-भाग में एक ही राज्य के अधीन हो अथवा एक ही शासन पद्धति से संचालित होता हो और एकता के सूत्र में अनुस्यूत हो। राजा के बिना राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती-

यथा चंद्र विना रात्रिर्यया गांवो विना वृषभ।

एवं हि भविता राष्ट्र यत्र राजा ना दृश्यते।"[14]

चाणक्य के अनुसार राष्ट्र की परिभाषा है- "किसी भी राष्ट्र के दार्शनिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक धरोहर उस राष्ट्र की वास्तविक अभिव्यक्ति होती है।"[15]

डॉ. सुधीन्द्र के अनुसार, "भूमि (भौगोलिक एकता) भूमिवासी जन (जनगण की राजनीतिक एकता) और जन संस्कृति (सांस्कृतिक एकता) तीनों के मेल से ही राष्ट्र का सृजन संभव है।"[16] अर्थात् इन तीनों का समुच्चय ही राष्ट्र कहलाता है। किसी भी एक के अभाव के कारण राष्ट्र को राष्ट्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्र (भारत) के संदर्भ में कहा है- "हिमालय से लेकर समुद्र पर्यंत के भू-भाग तथा हिमाचल की सभ्यता के प्रसार स्थल तक राष्ट्र है।"[17]

हिंदी विश्वकोष ने भी 'राष्ट्र' की परिभाषा इस प्रकार दी है- "राज्य देश, प्रजा किसी राज्य या देश के निवासी लोगों का समुदाय एक राष्ट्र, एक ही राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने का प्रयत्न करने वालों का एक ऐसा सांस्कृतिक समुदाय है जो समान नैतिक भावनाओं के शक्तिशाली सूत्रों द्वारा आबद्ध होता है। भौगोलिक और आर्थिक एकता, एक भाषा तथा समान इतिहास, एक राष्ट्रीयता की पूर्व दिशाएँ अवश्य है, किंतु राष्ट्र निर्माण के लिए यह पर्याप्त नहीं है। राष्ट्र बनता है लोगों की राष्ट्र बनाने की आम नैतिक भावना से।"[18]

डॉ. विनयमोहन शर्मा जी कहते हैं कि, राष्ट्र, जाति, धर्म एवं भाषा की एकता का नाम नहीं है, वह भावना की एकता का नाम है।"[19]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'राष्ट्र के स्वरूप' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- "भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति इन तीनों के सम्मेलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।"[20]

डॉ. वी. एस. माथुर ने राष्ट्र के संदर्भ में लिखा है-

"Nation is not just a crowd or conglomeration individuals. It is a living and pulsation entity by itself. Only people who have full devotion to their motherland and posses a characteristic genius of their own can constitute nation."[21]

अर्थात् (राष्ट्र भौगोलिक या राजनैतिक इकाई ही नहीं बल्कि दार्शनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप को मुखरित करने वाला उपकरण है, जिसका निर्माण राष्ट्र विशेष में रहने वाले लोग करते हैं।)

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार राष्ट्र का सीधा संबंध जनता से होता है, "वैदिक काल से जनपद उन जनों के निवास थे जो रक्तसंबंध के आधार पर संबंधित थे। प्रत्येक जन (कबीले, ट्राइब) के सदस्य वही लोग होते थे, जो परस्पर एक-दूसरे के संबंधी थे।"[22]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने राष्ट्र के संदर्भ में कहते हैं कि- "राष्ट्र केवल सीमाओं और समुच्चय का नाम नहीं है, उसके साथ

परिस्थितियों के एक विशिष्ट आयाम और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सादृश्य ही है।"[23]

पं.दीनदयाल उपाध्याय जी एक सांस्कृतिक व आध्यात्मिक राष्ट्रवादी चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिसकी परिणिती उनके एकात्म मानव सिद्धांत में होती है। जिसमें वे भारत को सच्चे धर्म स्वरूप के साथ स्थापित करते हैं। राष्ट्र के स्वरूप के विषय में उनका मत है कि "संस्कृति राष्ट्र का शरीर, चिति उसकी आत्मा तथा विराट उसका प्राण है।"[24] पं. जी का राष्ट्र के प्रति सांस्कृतिक प्रेम बिल्कुल स्पष्ट है। उनका अभिमत है कि, "मैं राजनीति के लिए राजनीति में नहीं हूँ, वरन मैं राजनीति में संस्कृति का राजदूत हूँ।"[25] यह उनका सांस्कृतिक प्रेम है, अपने राष्ट्र के प्रति। पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी जी का अभिमत है कि, "वह राजनीति का आध्यात्मीकरण चाहते थे। उनकी आस्थाएं प्राचीन अक्षय राष्ट्र जीवन को जोड़ा करती थी, किन्तु वे रूढ़िवादी नहीं थे।"[26]

पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण में 'राष्ट्र' की परिभाषा

पाश्चात्य विद्वानों ने भी राष्ट्र के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके द्वारा राष्ट्र की अवधारणा इस प्रकार है-

'अरस्तु' के मत में "राष्ट्र परिवारों और गांवों का ऐसा समुदाय है जिसका लक्ष्य है पूर्ण और स्वावलंबी जीवन, जबकि 'विल्सन' के मत में

राष्ट्र का अर्थ है एक निश्चित प्रदेश में निवास करने वाले लोगों की शासनादि के लिए व्यवस्थित की हुई संस्था।"[27]

जर्मनी के राजनीति के विद्वान **'बलन्टस्ले'** राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं-

"A union of masses of men of different occupations and social strata, in a herditary society of common spirit, feeling and race, bound together, especially by language and Customs, in a common Civilization which give them a sense of unity and distinction from all foreigners quite apart from the bond of the state."[28]

अर्थात्- (राष्ट्र राज्य सूत्रों के बन्धनों की एकता से संपूर्णत: निरपेक्ष, विभिन्न व्यवसायों एवं सामाजिक स्तर के मनुष्यों का समुदाय होता है, जो परंपरा प्राप्त संस्कारों एवं भावनाओं वाले एक समाज के अन्य सदस्यों से एकता एवं विदेशियों से अपनी पृथकता का अनुभव करता है।)

'गार्नर' के अनुसार, "राष्ट्र समाज का वह भाग है जो प्राकृतिक, भौगोलिक सीमा द्वारा अन्य राष्ट्रों से पृथक है। जहां लोगों का जातीय मूल एक है और जो एक भाषा बोलते हैं जिनकी सभ्यता और संस्कृति एक-सी ही है जिनके रीति-रिवाज एक से हैं।"[29]

गिलक्राईस्ट के अनुसार, "राष्ट्र तो राज्य और राष्ट्रीयता का सम्मिलित रूप है। वस्तुतः राज्य में अंतर है। राज्य पूर्णत: राजनीतिक मौलिक संगठन है जबकि राष्ट्र का स्वरूप आध्यात्मिक और चेतना संबंधी है। राज्य और राष्ट्र का संबंध विशेष भू-खंड से होता है किंतु राष्ट्र उस भू-खंड विशेष से बाहर भी विस्तृत हो सकता है यदि किसी राज्य में राष्ट्रीय भावना ना हो तो भी वह राज्य रह सकता है लेकिन वह राष्ट्र नहीं बन सकता।"[30]

बर्गेस ने राष्ट्र के विषय में अपने विचारों को प्रकट करते हुए राष्ट्र को इस प्रकार से पारिभाषित किया है- "एक जन समुदाय जिसकी भाषा एवं साहित्य, रीति-रिवाज तथा भले बुरे की चेतना सामान्य हो और जो भौगोलिक एकता युक्त प्रदेश में रहता हो राष्ट्र कहलाता है।"[31]

स्टालिन ने अपने राष्ट्र को इस प्रकार परिभाषित किया है जिनके विचार में "राष्ट्र वह एक समुदाय है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित और स्थायी होने के साथ सर्वसामान्य भाषा, भू-भाग आर्थिक जीवन और संस्कृति में परिलक्षित होने वाली विशेष मनोरचना से युक्त हो।"[32]

जूलियन हक्सले राष्ट्र को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- "Very many human activities, aspirations and emotions have contributed either naturally or artificially to build up the great synthesis that we term a 'nation', language and religion,

art, law even food, gesture, table manners, clothing and sports all play their part."[33]

'(अर्थात बहुत-सी मानव स्फूर्तियाँ महत्वाकांक्षाएँ और भाव स्वाभाविक या कृत्रिम रूप में परस्पर मिलकर उस वृहत संयोग की सृष्टि करते हैं, जिसे हम राष्ट्र शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। भाषा, धर्म, कला, विज्ञान, आहार, भाव- भंगी, मिलना-जुलना, वेश-भूषा, खेलकूद भी इसमें योगदान देते हैं)'

यह सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के कारण ही उसमें मिल-जुलकर रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रारंभ से ही विद्यमान है। अतः हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्र की अवधारणा कोई आधुनिक वस्तु नहीं।

अराजकता की दशा में भी मानव प्रारंभ से उन्नति करते-करते इस रूप में आया है। ये प्रगति एक दिन का परिणाम नहीं। यह वर्षों से धीरे-धीरे हुए मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का फल है। जिसका मूल आधार मनुष्य की स्वाभाविक सामुदायिक भावना है। इस भावना को जाति तथा धर्म की एकता से पर्याप्त पुष्टि मिली और मनुष्य ने अपने आपको रीति-रिवाजों, धर्म-विश्वास तथा समान भाषा में बांध लिया तथा सामूहिक जीवन व्यतीत करने के दौरान उसे (मनुष्य) को आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा और इस प्रकार समाज की व्यवस्था को चलाने के लिए कुछ नियमों का बंधन निर्धारित किया गया और अंत में जीवन रक्षा तथा

प्रगति के लिए जिस राजनीतिक एकता की आवश्यकता अनुभव की गई उसी ने 'राष्ट्र' को सच्चे अर्थों में जन्म दिया।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि किसी राज्य में संगठित ऐसा समाज 'राष्ट्र' कहलाता है जिसके धर्म, रीति-रिवाज, भाषा, विश्वास तथा जीवन के सुख-दु:ख की चेतना एक समान हों।

- **राष्ट्रीयता**

राष्ट्र के प्रति अपनत्व और ममत्व की भावना ही राष्ट्रीयता को जन्म देती है। राष्ट्रीयता एक प्रबल शक्ति एवं प्रभावशाली प्रेरणा है। राष्ट्रीयता तो एक ऐतिहासिक अद्भुत है, जिसे राजनीतिक कल्पनाओं तथा सामाजिक संगठनों से निर्धारित किया जा सकता है। इस विषय में **चाणक्य** का कहना है कि- "सामान्य जनता का सत्ता के प्रति प्रेम, सम्मान, सहयोग, विश्वास, निष्ठा तभी प्राप्त हो सकती है। जब जनता स्वयं महसूस करे कि यह शासन उसी का है। शासन का आधार वही है। सत्ता उसके समर्थन के बिना नहीं चल सकती।"[34] सत्ता तभी अपना काम निर्बाध रूप से कर सकती है, जब जनता के मन में यह भाव होगा अर्थात् राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो प्रत्येक देश के जनमानस में होती है या जिसका संबंध मानव की अंतरचेतना से है, जो अनिवर्चनीय होने के कारण अनुभूति का विषय होता है।

राष्ट्रीयता की परिभाषा को शब्दों में परिभाषित करना कठिन और अस्वाभाविक है क्योंकि इसका संबंध मनुष्य की आंतरिक चेतना से है, जो अनुभूति का विषय है। परंतु फिर भी हम कुछ परिभाषाओं द्वारा यह जानने की कोशिश करेंगे कि राष्ट्रीयता क्या है। जो विद्वानों द्वारा प्रमाणित किये गये हैं-

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक तथा राष्ट्रीय काव्यधारा के पोषक आग्नेय पुरुष पंडित **बालकृष्ण शर्मा** नवीन के अनुसार,"जिस प्रकार मानव हृदयों में प्रेम, घृणा, ईर्ष्या- द्वेष, आदि मनोभाव विकसित होते हैं। उसी प्रकार राष्ट्रीय भावना भी मानवों के हृदय में विकसित आलोढित और उन्नत होती है।"[35]

गणेश शंकर विद्यार्थी के अनुसार राष्ट्रीयता संकीर्णता तथा क्षेत्रीयता से कोसों दूर है- "राष्ट्रीयता जातीयता नहीं है। राष्ट्रीयता धार्मिक सिद्धांतों का दायरा नहीं है। राष्ट्रीयता सामाजिक बंधनों का घेरा नहीं है। राष्ट्रीयता का जन्म देश के स्वरूप से होता है। उसकी सीमाएँ देश की सीमाएँ हैं। प्राकृतिक विशेषता विभिन्न देश को संसार से अलग और स्पष्ट करती है और उसके निवासियों को एक विशेष बंधन किसी सादृश्य के बंधन से बाँधती है। राष्ट्र पराधीनता के पालने में नहीं पलता....राष्ट्रीयता का भाव मानव उन्नति की एक सीढ़ी है।"[36]

हजारी प्रसाद द्विवेदी "राष्ट्रीयता के उन तत्वों की प्रशंसा करते हैं, जिनसे मानवतावाद का समर्थन होता है। उनके अनुसार प्रजातंत्र की भावनाओं के विकास के साथ ही राष्ट्रीयता की नवीन विचारधारा का जन्म हुआ है।"[34]

डॉ. गुलाब राय के अनुसार, "एक सम्मिलित राजनीतिक ध्येय में बंधे हुए, किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जन-समुदाय का पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से उस भू-भाग के लिए प्रेम और गौरव की भावना को राष्ट्रीयता कहते हैं।"[37]

माखनलाल चतुर्वेदी के अनुसार, "मेरे विचार से राष्ट्रीयता उस पौधे का नाम है जो पराधीन देश में ही नहीं पनपता। वह स्वाधीन देश में भी उतना ही था, उससे अधिक हरियाला है।"[38]

डॉ. अंबेडकर के विचार-

"Nationality is a feeling of consciousness of kind which on the one hand binds together those, who have it so strongly that it over-sized all difference arising out of economic conflicts or social graduation and on the other savers them from those who are not of their kind."[39]

('अर्थात राष्ट्रीयता श्रेणीगत चेतना की एक अनुभूति है, जो एक ओर तो उन व्यक्तियों को जिनमें यह इतनी प्रगाढ़ होती है कि आर्थिक संघर्ष या समाजगत उच्चता-नीचता के कारण उत्पन्न होने वाले भेदभावों को दबाकर एक सूत्र में बांधे रखती है और दूसरी और उनको ऐसे लोगों से पृथक करती है जो उस श्रेणी के नहीं है।')

देशभक्त **चितरंजनदास** के अनुसार, "राष्ट्रीयता वह क्रिया है, जिसके द्वारा एक राष्ट्र अपने को व्यक्त करता है तथा अपने को खोज लेता है। राष्ट्रीयता का यथार्थ सार यही है कि प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपना विकास करना अपने को व्यक्त करना आवश्यक है। जिससे मनुष्यता भी स्वयं अपना विकास कर सके, अपने को व्यक्त कर सके और आत्मानुभव कर सके।"[40]

- **राष्ट्रीयता के पोषक तत्व**

राजनीति शास्त्र के विद्वान वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण कर जिन तत्वों को राष्ट्रीयता के लिए मुख्य रूप से स्वीकार करते हैं वे इस प्रकार है-

1) भौगोलिक एकता

2) भाषिक एकता

3) ऐतिहासिक सांस्कृतिक एकता

4) धर्म की एकता

5) आर्थिक हितों की एकता

6) जातीय एकता

7) राजनैतिक एकता

1) **भौगोलिक एकता-** किसी भी भौगोलिक क्षेत्र पर किसी मानव जाति का पर्याप्त समय तक निवास करने के बाद उसमें राष्ट्रीय भावना के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। भौगोलिक एकता का अर्थ ही एक निश्चित भौगोलिक सीमा का होना है।भू-भाग के प्रति जन समुदाय की ममत्व की भावना राष्ट्रीयता की उद्भावना में सहायक होती है। भारतीय वांग्मय और मुख्य रूप से हिंदी साहित्य में देवभूमि की माता के समान वंदना की गई है इसी भावना से 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का भाव उत्पन्न हुआ है। इसके अतिरिक्त 'अथर्ववेद' में 'भूमिवंदना' के स्तवनस्तोत्र में राष्ट्र के उत्कर्ष व सबल होने की कामना की गई है-

"सा नो भुमिस्तिवषि
बलं राष्ट्रे दत्तात्त्तमे"[41]

(अर्थात् हे भूदेवी! आप शक्ति प्रदान करें कि हमारा राष्ट्र सबल हो जाय)

रामधारी सिंह ‘दिनकर’ जी ने अपनी कृति 'संस्कृति, भाषा और राष्ट्र’ में भारत की भौगोलिक एकता को इस प्रकार से दर्शाया है -

"उत्तरं यत्समुद्र्स्य हिमाद्रेशचैव दक्षिणम,

वर्ष तदभारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।"[42]

जिसका अर्थ है समुद्र के उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला भाग भारत में हमेशा से एक ही माना जाता रहा है।

भौगोलिक एकता के अभाव के कारण राष्ट्रीय भावनाओं का विकास नहीं होता। मनुष्य भूमि के प्रति प्रगाढ़ स्नेह और ममत्व के कारण ही अपनी मातृभूमि पुण्य भूमि आदि शब्दों की अनुभूति करता है। मातृभूमि प्रेम से ही राष्ट्रीयता की भावना का उद्भव व विकास हुआ है। इसके विपरीत अगर हम देखें तो जो घुमक्कड़ जातियाँ व कबीले होते हैं, वह एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते रहते हैं परिणाम यह होता है कि न उनमें राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होती है और न ही धरती से एकात्मक संबंध स्थापित होता है। दीर्घकाल तक एक ही भौगोलिक क्षेत्र पर निरंतर रहने से वहां के लोगों में परस्पर सुख-दुःख, खान-पान, रहन-सहन, मधुर स्मृतियां, साहित्य, आर्थिक हित, इतिहास, रीति-रिवाज आदि समान बन जाते हैं और अपनेपन का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त समान इतिहास-बोध प्रतिष्ठा से भी भावनात्मक एकता की उत्पत्ति होती है, जो राष्ट्रीयता के लिए पोषक का कार्य करती है। आधुनिक युग की राष्ट्रीयता इसका प्रमाण है। उस युग में अतीत के गौरव गान द्वारा ही जनता में राष्ट्रीयता का संचार होता है और वह स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए लालायित

हो उठती है और इसी के कारण देश तथा देश के महानायक व निवासियों के प्रति गौरव का भाव जागता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता के तत्व में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

2) भाषिक एकता- भाषा की एकता को राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। मानव जाति भाषा के माध्यम से ही पीढ़ी दर पीढ़ी सांस्कृतिक मूल्यों को आज तक जीवंत रखती आयी है। भाषा एक ऐसा सशक्त माध्यम है। जिसके कारण धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक भावों को अभिव्यक्ति प्राप्त होती है इसी के संबंध में भारतेंदु जी कहते हैं कि-

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटै न होय को शूल।"[43]

सामान्य जनभाषा द्‌वारा ही किसी भी देश का जन समुदाय अपने विचारों तथा भावनाओं को आसानी से अभिव्यक्त कर सकता है। विचार विनिमय के लिए एक ही भाषा का प्रयोग जन समुदाय में एक होकर रहने का भाव शीघ्रता से उत्पन्न करता है एक ही भाषा में लिखा गया साहित्य तथा इतिहास राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकता है।

भाषा की एकता पर विचार करते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जी कहते हैं- "प्रत्येक राष्ट्र का कोई न कोई संदेश होता है जिसे वह राजनीतिक पराधीनता की स्थिति में व्यक्त नहीं कर सकता जिसे वह ऐसी किसी भाषा में भी नहीं कर सकता, जिसमें इस संदेश की साधना न की गयी हो, जिसमें शताब्दियों तक इसका चिंतन और मनन न हुआ हो, जाति की अपनी भाषा कौन सी है, यह जानने की सच्ची कसौटी यह होती है कि इसका दर्शन और काव्य किस भाषा में लिखा जा रहा है।"[44]इसके विपरीत यदि किसी देश में भाषा की एकता न हो तो उस देश के विभिन्न लोगों में परस्पर संबंध स्थापित करने में कठिनाई होगी तथा उदासीनता के साथ-साथ रागात्मक संबंध में भी निकटता नहीं होगी। इसी संदर्भ में सुप्रसिद्ध विद्वान म्यौर का कहना है-"विभिन्न जातियों और नस्लों को प्रेम सूत्र में बांधने वाली शक्ति केवल भाषा है। वास्तव में समान भाषा और विचारों की एकता तभी आ सकती है जब समान भाषा आ जाए।"[45]

इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं- स्विटजरलैंड में तीन भाषाएं बोली जाती है फ्रेंच, जर्मन और इटालियन परंतु फिर भी वहां के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना कभी लुप्त नहीं हुई। ठीक वैसे ही भारत में भी कई भाषाएं बोली जाती हैं। परंतु फिर भी सर्वसम्मत रूप से स्वीकार की गयी हिंदी, जिसे संविधान में राजभाषा के रूप में स्वीकृत

किया है, बोली जाती है। लिपि भाषा का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि- "एक देश में रहने, एक ही तरह की पोशाक पहनने और एक धर्म को मानने से परस्पर बंधुभाव अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है परंतु पारस्परिक सहानुभूति और बंधुता उत्पन्न करने की एक लिपि में, इन बातों की अपेक्षा अधिक शक्ति है। जहां किसी तरह की समता होती है वहां ममता जरूर उत्पन्न होती है और ममता से एकता आती है एकता ही देश का बल है।"[46] अतः हम कह सकते हैं कि, निज भाषा की उन्नति ही राष्ट्र की उन्नति का मूल तत्त्व है।

3) ऐतिहासिक-सांस्कृतिक एकता- किसी भी देश का इतिहास उस देश के अतीत का दर्पण कहलाता है। इतिहास लिखित दस्तावेज होता है जिसमें मानव जाति की सफलता-असफलता, विशेषताएं, जय-पराजय, त्रुटियाँ, राष्ट्रीयता की भावनाएं आदि होती हैं। संकटकालीन स्थिति में देश की एकता तथा अखंडता को बनाए रखने के लिए जिन वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, उन्हीं की वीरतापूर्ण कथाओं को पढ़कर देश के नवयुवक प्रेरणा ग्रहीत करते हैं, कोई भी देश अपने उज्ज्वल अतीत की ऐतिहासिक परंपरा से प्रेरित होकर ही अपने वर्तमान में भविष्य के लिए जीता है, जिस देश का इतिहास जितना उज्ज्वल होगा वहां की जनता उतनी संगठित और राष्ट्रीय भाव से युक्त होगी।

राष्ट्र के स्वरूप निर्धारण में संस्कृति अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है। 'महात्मा गांधी' जी ने लिखा है कि- "संस्कृति ही मानव जीवन की आधारशिला और मुख्य वस्तु है। यह आपके आचरण और व्यक्तिगत व्यवहारों की छोटी से छोटी बातों में व्यक्त होनी चाहिए।"[47]

देशभक्ति के निर्माण में संस्कृति योगदान देती है। उसी से जीवन-ढंग का बोध होता है तथा संस्कृति की व्यापकता में ही मानव जीवन के कई पहलू आ जाते हैं। प्राचीन समय की गौरवपूर्ण परम्परायें भी राष्ट्रीय संस्कृति का अंग होती हैं। राष्ट्रीयता के निर्माण में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान होता है, भारत जैसे विशाल देश में अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया किंतु विशेषता यह रही कि उनमें आपस में टकराहट नहीं हुई। किसी राष्ट्र की संस्कृति का नाश उसकी राष्ट्रीयता का नाश होना ही है। विविधता में एकता भारत के संदर्भ में ही प्रचलित है और यह भारत की विशेषता मानी जाती है। संस्कृति ही राष्ट्रीय एकता का आधार है। यह देशवासियों में एकानुभूति और एक होने की भावना का निर्माण करती है।

प्रत्येक राष्ट्र को अपने स्वर्णिम अतीत पर गौरव होता है। भारत के अतीत ने राष्ट्रीयता के विकास में बड़ा योगदान दिया है। राष्ट्रीय चेतना को उत्तेजित तथा सुदृढ़ करने में साहित्य ने सदैव योगदान दिया है। साहित्य के माध्यम से ही जन-जन के हृदय तक राष्ट्रीय भावों को पहुंचाया गया। ऐसे प्रमाणों का इतिहास में बिल्कुल भी अभाव नहीं है।

कला, संगीत, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, सभ्यता, इतिहास इत्यादि सभी संस्कृति के अंतर्गत आते हैं।

ऐतिहासिक परंपरा राष्ट्रीय संस्कृति का अंग मानी जाती है, जो राष्ट्र प्राचीनता का गौरव भुला देता है। वह अपनी राष्ट्रीयता को खो देता है। परंतु सत्य यह है कि कोई भी देश या जाति अपने देश के अतीत को नहीं भुला सकता क्योंकि वह वर्तमान को स्फूर्ति प्रदान करता है।

4) धर्म की एकता- राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विश्व की सभी संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और इसी धार्मिक प्रवृत्ति ने भारत की संस्कृति को जीवित रखा है। धार्मिक भाव आध्यात्मिकता में विश्वास रखने वाले विभिन्न समुदायों से जुड़ा होता है और धर्म में विश्वास रखने वाले परस्पर बंधुत्व की भावना में बंधे होते हैं। धर्म मानव समाज को अनुशासन में रहना सिखाता है। धर्म ही एक ऐसी परम सत्ता है जो मनुष्य मानव समाज में संगठन के भाव जागृत करता है। हमारे पूर्वजों ने भारत में देवस्थान तथा तीर्थों की स्थापना की है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है जिसकी चर्चा भारतीय संविधान में भी की है और इसका लिखित प्रमाण हमें भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी देखने को मिलता है।

धार्मिक उन्नति तथा आध्यात्मिकता राष्ट्रीयता के पोषक तत्व है। "जिस जीवन में सेवा-भावना, यज्ञ और आत्म - त्याग की प्रचुरता है, उसी के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है वर्षों की एकांत साधना के बाद बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, किंतु बुद्ध का शेष जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में ही व्यतीत हुआ। महायान धर्म का तो सिद्धांत ही है कि मुक्त पुरुष में भी दुखी मानवता के लिए दया का भाव शेष रहता है, गांधी जी धर्म के मनुष्य थे, किंतु विश्व को छोड़कर उन्होंने अपनी मुक्ति यंत्र नहीं खोजी। सेवा की क्रियात्मक भावना आध्यात्मिक जीवन का ही अंश है। "[48]

धार्मिक भावना जब संकीर्ण हो जाए और धर्मांधता में परिवर्तित होने लगे तो ऐसा धर्म हानिकारक बन जाता है। भारत में भी यह स्थिति देखने को मिलती है। भारत और पाकिस्तान का बंटवारा उसका उदाहरण है। भारत में इसी अंधविश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों के कारण ही धर्म का ह्रास होता रहा है, इसीलिए हमें यह याद रखना होगा कि हम सबसे पहले भारतीय हैं। यही हमारी पहचान है बाद में हिंदू, मुसलमान, सिख, इसाई।

राष्ट्रीयता का विकास धर्म के प्रति उदार भावना रखने से ही होता है क्योंकि राष्ट्रीयता एक धर्म है यह केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं, हमें सर्वप्रथम राष्ट्रीय धर्म को ही स्वीकार करना होगा।

5) आर्थिक हितों की एकता- आर्थिक एकता राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण पहलू है। समान आर्थिक आकांक्षाएँ, समस्याएं और उसे सुलझाने का सामूहिक प्रयास राष्ट्रीय एकता को सबल बनाने में सहायक होता है। राष्ट्र निर्माण के लिए लोगों का आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे से जुड़े रहना आवश्यक है। यदि आर्थिक समस्याओं को लेकर किसी जनसमूह की आकांक्षा एक ही प्रकार की होती है तो उस जनसमुदाय में एक होने का भाव अधिक मात्रा में पाया जाता है कई बार ऐसी समस्याओं के निवारण के लिए आर्थिक संधियां भी हुई हैं। जिससे राष्ट्रीय चेतना प्रवाहमान होती है। जब समस्याएं और आकांक्षाएँ एक समान रहती हैं तो उसे सुलझाने के लिए जो सामूहिक प्रयास होता है वह भाव ही हमारी राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाता है। राष्ट्र की संपन्नता उसका विकास सब आर्थिक चेतना के ही मूल बिंदु हैं। अतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्र का विकास उसकी सुदृढ़ता आर्थिक चेतना पर ही आधारित है।

6) जातीय एकता- जातीय एकता के अंतर्गत रक्त के संबंध पर बल दिया जाता है क्योंकि रक्त का परस्पर संबंध मानव समूह में स्वाभाविक एकता उत्पन्न करता है। मानव के सामाजिक विकास के प्रारंभिक अवस्था में सांस्कृतिक तथा सामाजिक एकता के आधार के रूप में जाति या वंश का बड़ा महत्व रहा है। प्रायः समान नस्ल या वंश में एकता के दर्शन होते हैं। जिस देश की जनता में जितना भाव बंधुता और संगठित होकर रहने

का होगा, उस देश की राष्ट्रीयता भी उतनी ही परिपक्व होगी। आज प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। हम किसी भी देश में एक ही जाति का निवास नहीं पाते परंतु उन सभी में यह भावना अवश्य पायी जाती है कि राष्ट्रीयता के नाम पर वे एक ही हैं। जैसे इंग्लैंड में ब्रिटिश, नार्मन आदि अनेक प्रकार की जातियाँ हैं। परंतु फिर भी उनमें इंग्लिश होने की भावना विद्यमान है। वैसे ही भारत में भी अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती हैं परंतु फिर भी सभी में भारतीय होने का गौरव है। विविधता में एकता जातीय एकता पर भी लागू होता है। राष्ट्र का रक्षक राष्ट्रीय भावना से युक्त जनसमुदाय होता है।

भारतीय जाति का एक उदाहरण आर्य जाति है। जिसने अनेक उतार-चढ़ाव को देखते हुए भी अपने स्वरूप को बनाए रखा। इस विषय में 'पंडित जवाहरलाल नेहरू' कहते हैं- "आर्य जाति ने इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव देखने पर भी अपने स्वरूप को बनाए रखा। जो जातियां बाहर से आई वे आज तक भिन्न-भिन्न धर्म विश्वासों का पालन करती चली आ रही हैं परंतु फिर भी वे भारतीय ही हैं।"[49]

राष्ट्रीय जाति होने का गौरव वही जाति कर सकती है, जिसमें राष्ट्र के हित के लिए सदैव एक उत्साह रहता हो। यही जातीय एकता राष्ट्रीयता का प्रमुख सूत्र है।

7) राजनैतिक एकता- राजनैतिक हितों की एकता राष्ट्रीयता का सबसे सशक्त माध्यम है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन इसका प्रमाण है। कोई भी राष्ट्र अपने घर में किसी अन्य राष्ट्र का प्रभुत्व नहीं चाहता। राजनीतिक सुदृढ़ता पर ही राष्ट्र की सुरक्षा निर्भर होती है। जब किसी देश पर विपत्ति आती है, तब उस समय उस देश के निवासियों को राजनैतिक एकता का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे समय में देशवासी अपनी भूमि की रक्षा के लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं। राजनैतिक एकता राष्ट्रीय एकता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। देशवासियों की अभिलाषा होती है कि जहाँ वह रह रहे हों वहाँ उनका ही शासन हो। इसी कारण कई विद्वान तो राजनैतिक एकता को ही राष्ट्र का नाम देते हैं। आधुनिक काल में राजनैतिक एकता को राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार किया गया है। राष्ट्रवाद किसी जनसमूह के राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में सहायक होता है।

उपरोक्त तत्वों के आधार पर हम कह सकते हैं कि, सभी तत्त्व किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में सहायक तो होते हैं, परंतु राष्ट्र के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किसी भी तत्त्वों की अनिवार्यता आवश्यक नहीं है। यदि इनमें से कोई भी तत्व न हो, फिर भी राष्ट्रीयता की स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। स्विटजरलैंड में समान भाषा नहीं है तथा भारत में समान धर्म नहीं है। अमेरिका में समान वंश नहीं है। फिर भी राष्ट्रीयता विद्यमान है। अतः

इस बात से यह सिद्ध होता है कि, राष्ट्रीयता के लक्षण कम ज्यादा हो सकते हैं। परंतु राष्ट्र ऐसी प्रबल भावना है, जिसके सहारे विशिष्ट भू-भाग में रहने वाले लोगों में एकसूत्रता एवं भावनात्मक लगाव की सकारात्मक मनोदशा की साकार अभिव्यक्ति निश्चित होती है।

- **राष्ट्रीयता का विकास**

विश्व

राष्ट्रीयता के विकास की शुरुआत यूरोप, मुख्य रूप से पश्चिम यूरोप से हुई थी और यहीं से यह पूरी दुनिया के दूसरे भागों में प्रसारित हुई।

"**अर्नेस्ट बार्कर**, ने राष्ट्रीयता के आधुनिक सिद्धांत को विश्व के प्रमुख राजनीतिक चिंतन के रूप में उपस्थित करने वाले तीन तत्व गिनाए हैं- प्रथम पोलैंड का विभाजन; द्वितीय फ्रांसीसी राज्यक्रांति एवं तृतीय जर्मनी में राष्ट्रीयता का विकास।"[50]

पोलैंड का विभाजन कर, इसके पड़ोसी देश रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया ने आपस में बांट कर, उस पर अपना अधिकार कर लिया। पोलैंड वासियों को इन तीनों शक्तियों के इस मानवीय अधिकार व हस्तक्षेप से बड़ा आघात लगा। चूंकि पोलैंड में पहले राजतंत्र था। परिणाम स्वरूप राजतंत्र को समाप्त कर पैतृक राजतंत्र की स्थापना कर दी। फिर एक बार 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया ने

दूसरी और तीसरी बार बंटवारा किया। जिससे पोलैंड का अस्तित्व समाप्त हो गया और वे सीमावर्ती देशों में भाग गए। यहां उन्होंने पोलैंड की स्वतंत्रता के लिए शक्तिशाली अभियान शुरू कर विश्व के विचारकों की सहानुभूति प्राप्त कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि, यूरोप के राजनीतिज्ञ ने इस पर विचार किया और उसकी स्वतंत्रता के लिए कुछ करने का ठान लिया। जब प्रथम विश्वयुद्ध हुआ उसके बाद यूरोप का मानचित्र पुनः निर्मित किया गया। जिसमें पोलैंड को स्वतंत्र राज्य घोषित किया गया। पोलैंड को फिर से उनकी पहले वाली भौगोलिक सीमा उपलब्ध हो गयी। इस घटना के बाद यूरोप के अन्य क्षेत्र भी प्रभावित हुए।

जैसे ही पोलैंड को उनका राज्य स्वतंत्र रूप से प्राप्त हुआ। उसके बाद फ्रांस में भी क्रांति के स्वर का बिगुल बजने लगा। फ्रांस की क्रांति में यह हुआ कि वहां के सम्राट का वध कर लोकतंत्र की स्थापना की गई निरंकुश वाद का सदैव के लिए अंत हो गया।

जर्मनी ने भी 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वयं को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर लिया। इस प्रकार राष्ट्रीयता की लहर पूरे यूरोप में फैल गयी और स्वतंत्र राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी। "यूरोपीय देशों के अतिरिक्त जापान, चीन आदि देशों में भी राष्ट्रवाद का विकास

हुआ।"[51] 19वीं शताब्दी के अंत तक अनेक राष्ट्र स्वतंत्र हो गए और बाकी प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतंत्र हुए।

राष्ट्रीयता की लहर को यूरोप के मध्य व पूर्व में पहुंचाने का श्रेय पूंजीवादी तत्वों को भी जाता है क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को स्वयं के लाभ के लिए उत्तेजित किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में अनेक राष्ट्रों का उदय हुआ जिनमें भारत, इंडोनेशिया, श्रीलंका, बर्मा, पाकिस्तान, घाना आदि प्रमुख है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि 18वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता का उदय हुआ। 19वीं शताब्दी में यूरोप में उसका प्रचार-प्रसार तथा विकास हुआ और 20वीं शताब्दी में एशिया तथा अफ्रीका में पहुंचकर वह युगधर्म का रूप धारण करती है।

भारत

वैसे तो कुछ विचारकों का मानना है कि राष्ट्रीयता की भावना विदेश की देन है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि 18वीं शताब्दी में यह भावना फ्रांस तथा अमेरिका की क्रांति से उत्पन्न हुई फिर 19वीं शताब्दी में यूरोप के मध्य-पूर्व से होती हुई भारत की तरफ अग्रसर हुई। राष्ट्रीयता की भावना भारत में प्राचीन काल से विद्यमान थी, परंतु आंशिक रूप में। अंग्रेजों के भारत आगमन के उपरांत राष्ट्रीयता का

विकास होने लगा और स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह प्रचंड रूप धारण कर लेता है।

प्राचीन काल में राष्ट्रीयता का स्वरूप

प्राचीन काल में राष्ट्र के प्रति सुंदर उद्‌गारों की अभिव्यक्ति कई जगह देखने को मिलती है। प्राचीन काल में हमारे राष्ट्र भावना का उद्‌गम हमारे प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध है। वैदिक तथा ब्राहमण काल में भारत में हमारी जाति व देश का सर्वांगीण विकास आर्यों की प्रेरणा और मार्गदर्शन का ही फल है। प्राचीन काल में धार्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्रीयता देखने को मिलती है। भारत के गौरवपूर्ण अतीत और आर्यों के गौरवपूर्ण अतीत ने राष्ट्रीय जीवन को एक सूत्र में बांधा है। भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता अत्यंत प्राचीन है। यह हमारी सांस्कृतिक एकता ही है कि आज भी भारत के किसी भी भाग में स्नान करते समय भारतीय उन सात नदियों का नाम लेते हैं जिनको आर्यपुत्रों द्‌वारा उच्चारित किया गया था, जिनमें भारत की राष्ट्रीय एकता की सुंदर अभिव्यक्ति है-

'गंगे च यमुनेचैव गोदावरी सरस्वती,
नर्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरू।'

"प्रारंभ में आर्यों की भूमि और मूल स्थान भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों तक ही सीमित माना जाता था। ऋग्वेद में इसको 'ब्रहमावर्त अथवा 'सप्तासिंधु'-अर्थात् सात नदियों का देश कहा जाता है।"[52]

वैदिक काल में आर्य संस्कृति ने भारत में आने वाली सभी जातियों को एक कर दिया अर्थात् एक ही रंग में रंग डाला, उस समय वैदिक साहित्य और संस्कृत साहित्य में 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। प्रत्येक आर्य अपने देश का एक सुयोग्य नेता बनने की कामना मन में रखता था। एक सुयोग्य शासक ही उच्च राष्ट्र का निर्माण कर सकता है -

"वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता:"[53]

अर्थात् हम अपने देश में सावधान होकर पुरोहित (अगुवा) बनें। वैदिक काल के राष्ट्रीय भावना की सबसे प्रमुख विशेषता उसका कुटुंब भाव है। संपूर्ण देश और यहां तक की संपूर्ण विश्व एक विशाल कुटुंब है और यही भावना आगे चलकर 'वसुधैव कुटुंबकम' के नाम से पल्लवित होती है।

रामायण और महाभारत काल में धार्मिक व सांस्कृतिक एकता की झलक मिलती है। इस समय भक्ति व वीर रस से ओत-प्रोत दो महाकाव्य लिखे गए- रामायण और महाभारत। रामायण दक्षिण भारत में आर्यों के प्रवेश के इतिहास की व्यंजना करती है। यह वह समय है जब राजनीतिक क्षितिज पहले की अपेक्षा अत्यधिक विस्तृत हुआ तथा सार्वभौम साम्राज्य की धारणा प्रबल हुई। राष्ट्र कल्याण की भावना का प्रस्फुटन राजा तथा प्रजा दोनों के समक्ष हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप सभी संगठित हुए और जीवन का लक्ष्य राज्य, राष्ट्र और विश्वहित

निर्धारित किया गया। महाभारत कौरव-पांडव का महायुद्ध है इसका शांति पर्व भारतीय धर्म एवं राजधर्म शास्त्र का ग्रंथ है।

जैन तथा बौद्ध काल में पहली बार भौगोलिक एकता के साथ-साथ राजनीतिक एकता का उन्मेष देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म ने वर्ण व्यवस्था की कटु आलोचना की और जनता के सामने एक नया मार्ग रखा। बौद्ध धर्म ने समाज में व्याप्त ऊंच-नीच के भाव को समाप्त किया और सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता को लोकभाषा के माध्यम से दृढ़ किया।

मौर्य काल और गुप्त काल में 'चाणक्य' ने मौर्य वंश के चंद्रगुप्त द्वारा के माध्यम से भारत की विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा से रक्षा की तथा सभी राज्यों को एक सूत्र में पिरोकर भारत भूमि के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की। चाणक्य राज्य, राष्ट्र और देश तीनों को एक दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं, इस संदर्भ में आचार्य **चाणक्य** का कहना है कि-

"राज्य यानी राजकीय समाज सबसे श्रेष्ठ समाज है और उसमें सब समाज शामिल है, इसीलिए सबसे श्रेष्ठ हित का साधन 'राज्य' का उद्देश्य होना चाहिए।"[54]

गुप्तकाल भारतीय इतिहास में स्वर्ण काल के नाम से विख्यात है उन्होंने भारत जननी की दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ते हुए भारतीय संस्कृति की रक्षा की। यह युग हिंदू नवोत्थान का युग था।

मध्यकाल में राष्ट्रीयता का स्वरूप

मध्यकाल में वीरगाथा की समाप्ति तक देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो चुका था। राष्ट्र के हित के लिए राष्ट्रीय भावना का होना आवश्यक था और भारतीयों की यह भावनाएं सुप्त तो हो सकती थीं, किंतु विलुप्त नहीं। इस्लाम के लगातार आक्रमण तथा उनकी कठोर शासन नीति से भारतवासियों को बहुत आघात पहुंचा। "ईरान, मिस्र तथा स्पेन जैसे बड़े-बड़े देशों के राष्ट्र-जीवन को नष्ट कर, वहां पर वे अपनी धाक जमा चुके थे। भारत को भी वे उसी प्रकार जिसने आत्मसात कर लिया उस हिन्दू राष्ट्र को अपने अस्तित्व के लिए एक कड़ी परीक्षा और संघर्ष में डाल दिया।"[55]ऐसी परिस्थितियों में भारतीयों का भगवान की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक था। पूरे भारत में भक्ति की लहर दौड़ गयी। दक्षिण में आलवार भक्त, उत्तर भारत में संत, सूफी, राम-भक्त, कृष्णभक्त मुख्य रूप से क्रमशः कबीर, जायसी, तुलसी, सूरदास सभी ने भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। तुलसी की वाणी तत्कालीन राष्ट्र की वाणी है और उनका रामचरितमानस उस युग का सबसे लोकप्रिय ग्रंथ। शिवाजी के चरित्र को उस युग में महान बताया गया है। वह हिंदू और मुसलमान दोनों का समान रूप से आदर करते थे। राजनैतिक क्षेत्र में भौगोलिक दृष्टि से जो स्वरूप लिया वह पूर्व युग की अपेक्षा अधिक विस्तृत परिधि लिए हुए थी।

सारांश में इस युग को हिंदू राष्ट्रीय चेतना कहना उचित होगा क्योंकि इस काल में कवियों की राष्ट्रीय भावना जातीय गौरव तक सीमित रही। इस समय राष्ट्रीय भावना तो थी परंतु उनमें वह व्यापकता न आ सकी जो समस्त राष्ट्र को संगठित रूप दे सके। राष्ट्रीय भावना का प्रगाढ़ स्वरूप अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात दिखायी पड़ता है जिसका विकास समय के साथ-साथ होता है। राष्ट्रीय चेतना का जैसा प्रचंड प्रभावशाली स्वरूप आधुनिक युग में देखने को मिलता है वैसा इससे पहले नहीं मिलता।

आधुनिक काल में राष्ट्रीयता का स्वरूप

भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन के उपरांत भारत की शासन सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ चुकी थी। सन 1857 के विद्रोह ने भारतीय जनमानस के मन में आजादी के लिए बीजारोपण किया। विद्रोह तो असफल रहा परंतु इस विद्रोह ने राजनीतिक राष्ट्रीयता आंदोलन के बीजारोपण के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण कर दिया था। इस प्रथम राष्ट्रीय क्रांति के कर्णधार थे- नानासाहेब, तात्या टोपे, बहादुर शाह और झांसी की रानी। इस विद्रोह को विनायक दामोदर सावरकर ने भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध बताया। "महारानी विक्टोरिया की घोषणा तथा शासन सूत्र का ब्रिटिश पार्लियामेंट के अधिकार में आ जाने से विद्रोहाग्नी पर राख डालने का प्रयत्न किया गया था। किंतु यह आग

अंदर ही अंदर धधकती रही।"[56] इस विद्रोह के पश्चात अंग्रेज देश की राष्ट्रीय भावना का दमन करने में असमर्थ रहे। राजनीतिक क्षेत्र से स्थानांतरित होते हुए यह भावना सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में पहुंची और राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती तथा अन्य सुधारकों के नेतृत्व में विकसित हुईं।

भारतीय राष्ट्रवाद का सूत्रपात आर्य समाज की स्थापना के साथ धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में हुआ। थियोसोफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण मिशन ने इसे बल प्रदान किया। वहीं पुनः राष्ट्रीय भावना लाल, बाल और पाल द्वारा लायी गयी। जिसके कारण राष्ट्रवादी धारा का संचार हुआ।

"ज्योति प्रसाद ने लिखा है कि "भारतीय राष्ट्रीयता ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन के रूप में अभिव्यक्ति हुई और हिंदू धर्म की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागृति ही थी जिसने राष्ट्रीय आंदोलन को सफल बनाया।"[57]

राष्ट्रीयता और कांग्रेस

सन् 1885 ई. में ए. ओ. ह्यूम द्वारा भारत की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की स्थापना की गई। कांग्रेस को भारत की राष्ट्रीयता की आत्मा कह सकते हैं। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भारत पर सकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि उनके द्वारा अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार में शिक्षित भारतीयों को अनेक अधिकारों के प्रति सजग कर उनमें राष्ट्रीय भावनाओं

का संचार किया और स्वतंत्र संघर्ष के उदय और प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कांग्रेस की स्थापना ने भारतीयों को एक मंच प्रदान किया। जहां से वे अब अपने मांगों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखते थे।

दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, रानाडे, तिलक, गोखले, सुरेंद्रनाथ, लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय और सर शंकर नायक जैसे बुद्धिजीवी भारतीयों और ह्यूम, बेडरबर्नमूल और नटिन जैसे उदार विचार के यूरोपियन आदि का कांग्रेस के साथ निकट संबंध था। इस युग में कांग्रेस वैधानिक मामलों तक ही सीमित रही। कांग्रेस ने बड़े ही विनम्रता पूर्वक अपनी मांगों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। "कांग्रेस ने इस युग में भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करके, उन्हें एक सूत्र में बांधने और उनमें राष्ट्रीय एवं राजनीतिक- जागृति फैलाने के लिए महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किया था।"[58]

कांग्रेस के शैशवकाल को उदारवादी अथवा नरम राष्ट्रवाद का युग कहा जा सकता है। इस काल के दौरान कांग्रेस को सरकार की सहानुभूति एवं सहयोग प्राप्त हुआ।

कांग्रेस की स्थापना 1885 ई. में हुई और भारतीय राजनीति में 1885 ई. से 1905 ई. तक का काल नरमपंथी विचारधाराओं का काल रहा। परंतु बीसवीं सदी के प्रारंभ होते स्वराज युग अथवा तिलक युग

1906 ई. से 1919 ई. का काल उग्र विचारों के उदय और विकास का काल रहा। इस युग में भारतीयों में नई स्फूर्ति व जागृति देखने को मिलती है। राष्ट्रवाद के विकास में दक्षिण में फैले अकाल और महामारी ने सहायता की इससे उग्र राष्ट्रवाद को बल मिला व उग्र राष्ट्रवाद को कुछ अंतरराष्ट्रीय घटना ने भी प्रभावित किया।

उधर बंगाल का विभाजन इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। लॉर्ड कर्जन ने भारतीयों के आशाओं को पैरों तले रौंद दिया। जिसके कारण भारतीयों में असंतोष की ज्वालामुखी का विस्फोट व भारतीयों द्वारा इसका डटकर विरोध किया गया। 20 जुलाई 1905 ई. को जब बंग-भंग करने की घोषणा हुई। तब इसका तीव्र विरोध प्रारंभ हो गया क्योंकि बंगाल का प्रश्न अब पूरे भारत का बन गया था। इसी समय में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और स्वदेशी आंदोलन को अपनाया गया। इस समय राजनैतिक संग्राम की दिशा ही बदल गई।

उग्रदल के संस्थापक बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बिपिन चंद्र पाल थे। इस दल का ध्येय स्वाधीनता था। 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप कांग्रेस और मुस्लिम लीग को साथ में कार्य करने की प्रेरणा दी। होमरूल आंदोलन, तिलक और श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व इस युग की महत्वपूर्ण घटना है। वहीं दूसरी और स्वदेशी आंदोलन, विदेशी बहिष्कार,

राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज का लक्ष्य ये सब इस युग की महत्वपूर्ण घटनाएं रहीं।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जिस युग का प्रारंभ हुआ उसे गांधी युग (1920-1929 ई.) कहा गया। गांधी का आगमन भारतीय राजनीति में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की घटना है। यह युग जन आंदोलन का युग था। दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के बाद गांधीजी ने कई स्थानों पर सत्याग्रह आंदोलन चलाया। गांधीजी का सत्य और अहिंसा, सविनय अवज्ञा आंदोलन, रचनात्मक कार्यक्रम और उपवास यह सभी इस युग को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। रॉलेट बिल, पंजाब का आंदोलन, जलियांवाला बाग हत्याकांड की दुर्घटना और खिलाफत आंदोलन से गांधीजी अत्यंत प्रभावित हुए और असहयोग आंदोलन की शुरुआत की। इस आंदोलन से गांधी जी पूरे भारतीयों को एक साथ लाना चाहते थे। इसके लिए हिंदू मुसलमानों को एक करना जरूरी था। इस उद्देश्य के लिए मुस्लिमों के जवान नेता मोहम्मद अली और शौकत अली से मिले और इस आंदोलन के बारे में बताया और उन्हें उनका सहयोग प्राप्त हो गया। इस आंदोलन का उद्देश्य काउंसिलों का बहिष्कार करना, न्यायालय और सरकारी विद्यालयों का बहिष्कार करना तथा राष्ट्रीय पंचायतों की स्थापना था। परंतु चौरी-चौरा की दुर्घटना के बाद आंदोलन स्थगित कर

दिया गया। पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज प्राप्ति के उद्देश्य से स्वराज्य दल की स्थापना की।

इसके बाद पूर्ण स्वतंत्रता काल (1930-1947 ई.) आता है। इस युग में लंदन में तीन बार गोलमेज सम्मेलन हुआ। 1935 ई. का अधिनियम पारित हुआ। सविनय अवज्ञा आंदोलन का सूत्रपात हुआ। भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी दी गयी। दांडी यात्रा, नमक कानून तोड़ना आदि ने पूरे देश में तूफान मचा दिया। 1930 ई. में गांधी-इरविन समझौता हुआ, 1942 में क्रिप्स मिशन भारत आया, इसी वर्ष गांधीजी ने 'भारत छोड़ो', 'करो या मरो' का नारा बुलंद किया। एक महान जन आंदोलन अपनी पूरी शक्ति के साथ पूरे देश में फैल गया। देश का सभी वर्ग इस आंदोलन में कूद पड़ा और सभी ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। 1945 ई. के बाद वेवेल योजना और शिमला सम्मेलन हुआ। 1946 ई. में कैबिनेट मिशन भारत आया और नेहरू की अंतरिम सरकार बनी। आजाद हिंद फौज और नेताजी सुभाष चंद्र बोस के व्यक्तित्व ने पूरे भारत में हड़कंप मचा दी। मुस्लिम लीग ने अपनी संस्था पंजाब और सीमा प्रांत इलाके में बनाए रखने के लिए भयंकर नृशंसता को अंजाम दिया। मुसलमानों की हिंसा द्वेष और प्रतिशोध की भावना ने दो राष्ट्रों के सिद्धांत को जन्म दिया। इन सब घटनाओं ने ब्रिटिश सरकार को हिलाकर रख दिया। इन्हें इस बात का एहसास हो गया था कि भारतीयों को अब

दास बनाए रखना असंभव है, दु:खद परिणाम सामने आया और 'फूट डालो राज करो' की नीति के साथ ब्रिटिश शासन का अंत हुआ। अंग्रेजी सरकार ने स्वीकार किया कि वे अपनी पूर्व घोषित योजना के अनुसार जून 1948 ई. तक भी शासन करने में असमर्थ है और भारत विभाजन के आधार पर भारतीयों को सत्ता सौंपने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार 15 अगस्त 1947 ई. को भारत स्वतंत्र घोषित किया गया।

सारांश यही है कि इस प्रकार हमने देखा कि किस प्रकार से भारत में राष्ट्रीयता का विकास होता है। यह भावना वैदिक काल से ही भारत में आर्यों की भौगोलिक एकता के रूप में विद्यमान थी। जिसका निरंतर विकास होता रहा और आधुनिक युग में किस प्रकार इसने प्रचंड, प्रबल और प्रभावशाली रूप धारण किया।

- **हिंदी साहित्य में राष्ट्रीयता का विकास**

आदिकाल

अपभ्रंश साहित्य जिसका समय छठी शताब्दी से ग्यारहवीं-बारहवीं तक माना जाता है। स्वयंभू ने पदम-चरित्र तथा पुष्पदंत ने 'महापुराण' में धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ वीरों के उत्साह और शत्रु के विनाश की भावना का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है। इसी समय हेमचंद्र के 'प्राकृत व्याकरण', विद्यापति के 'कीर्तिलता' ग्रंथ में वीरता का वर्णन देखने को

मिलता है। वहीं शाङ्गधर, बब्बर आदि कवियों की रचनाओं में मातृभूमि के रक्षण तथा उत्कर्ष की भावना का वर्णन मिलता है।

अपभ्रंश साहित्य में जिन युद्धों का वर्णन मिलता है, वह राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रेरणा परिचायक के रूप में कार्य करते हैं। हिंदी साहित्य में डिंगल-पिंगल साहित्य चारण साहित्य के नाम से जाना जाता है। चारण साहित्य ने जाति व देश के गौरव को बनाए रखा। इसमें मुसलमानों द्वारा किए गए आक्रमण व देशी राजाओं के प्रतिकार का वर्णन मिलता है।

चारण साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है। इसके अतिरिक्त रासो साहित्य में 'आल्हा खंड', विजयपाल रासो, रणमल छंद आदि तत्कालीन समय की राष्ट्रीय विचारधारा से संबंधित प्रमुख काव्य है। इस काल के कवि चारणकवि थे, जो अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में अपना समय बिताते थे। परिणामत: राजा आपस में लड़ते झगड़ते थे। जिससे तत्कालीन राष्ट्रीयता संकुचित हो रही थी। नारियां भी उपेक्षित थीं, परंतु फिर भी ऐसी परिस्थितियों में भी, भारत की जो अतीत से चली आ रही परंपरा थी, वह विद्यमान थी और यही वह भावनाएं थीं, जो पतन की ओर उन्मुख देश को संघर्ष करने की प्रेरणा से सिंचित कर रही थीं।

भक्तिकाल

भक्तिकाल में देश पर विदेशी आक्रान्ताओं का शासन जाम चुका था। भारतीय राजाओं के साम्राज्य लगभग समाप्त हो चुके थे, जो थोड़े बहुत बचे भी थे उन पर लगातार मुस्लिम आक्रान्ताओं से संकट बना हुआ था। ऐसी स्थिति में भारत के सामने राष्ट्रीयता का संकट उत्पन्न हुआ। तब देश को एकसूत्र में बांधने के लिए भक्ति आंदोलन का उदय होता है। जो सम्पूर्ण भारत को, पूर्व से लेकर पश्चिम तथा उत्तर से लेकर दक्षिण को एकता के सूत्र में बांधता है, जिनमें भक्तिकालीन संतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह नहीं रहा क्योंकि उन्हीं के सामने मंदिर, मूर्तियाँ नष्ट की जाती थीं। वैसे तो भक्ति काल में धार्मिकता दिखायी देती है परंतु उस युग को राष्ट्रीयता से शून्य नहीं कहा जा सकता। भक्ति धारा के निर्गुण कवि कबीर की वाणी में यही राष्ट्रीयता परिलक्षित होती है-

"गहना एक कनक ते गहना, इन महँ भाव न दूजा,
कहन सुनन को दुह करि थापिन, एक निमाज, एक पूजा"[59]

कबीर के समान अन्य कवि कवियों ने भी हिंदू और मुस्लिम एकता पर अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है, सगुण धारा में भी राष्ट्रीयता के

दर्शन होते हैं। सूरदास ने लोक कल्याण के लिए कार्य किया। वहीं तुलसीदास सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के नायक के रूप में दिखाई देते हैं।

रीतिकाल

रीतिकाल में श्रृंगार की अत्यधिक प्रधानता रही है परंतु ऐसे कठिन समय में राजा केवल अपने राज्य तक ही सीमित रह रहे थे। साहित्य में घोर शृंगार बढ़ता जा रहा था। देश में व्यभिचार व्याप्त हो रहा था। ऐसे समय में भूषण राष्ट्रीयता की भावना को अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ रहे। यह वीर रस के प्रसिद्ध कवि रहे हैं। औरंगजेब ने किस प्रकार हिंदू मुसलमान को भड़काया। भूषण की कविता में यह भेद साफ झलकता है-

"बब्बर अकबर हुमायूं हद्दबांधी गए,
हिंदू और तुरक की कुरान वेद ढब की,
और बादशाहन मैं दुनि हिन्दुन की,
जहांगीर शाहजहां शाखपूरै तन की ।"[60]

आधुनिक काल

आधुनिक काल में संपूर्ण भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता का आंदोलन चल रहा था। ऐसी स्थिति में काव्य में राष्ट्रीयता का उन्मेष होना स्वभाविक था। जिसकी शुरुआत भारतेंदु हरिश्चंद्र से होती है। इसके साथ ही भारतेंदु युग के अन्य कवि भी भारत की दुर्दशा का

वर्णन करते हैं और अतीत का गुणगान कर देश की जनता को जागृत करने का कार्य करते हैं-

अंग्रेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।

पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

वहीं द्विवेदी युग में राष्ट्रीय भावना का स्वरूप और अधिक निखर कर हमारे सामने आता है। इस युग के श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह उपाध्याय, 'हरि औध', 'रामनरेश त्रिपाठी', मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, सियारामशरण गुप्त, वियोगी हरि आदि कवियों ने सामाजिक उत्कर्ष तथा राष्ट्रोन्नति की भावना को ही लक्ष्य बनाया। मैथिलीशरण गुप्त इस युग के राष्ट्रकवि के नाम से जाने जाते हैं। इनकी भारत-भारती इस युग की महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कृति मानी जाती है। भारत-भारती में इन्होंने अतीत का चित्रण, वर्तमान चिंतन तथा स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की है-

'देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था,

नर देव थे हम और भारत देवलोक समान था।'

वर्तमान पर चिंतन करते हुए-

'कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।

आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्याएँ सभी।।

इसके अतिरिक्त -

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,

वह नर नहीं नर पशु निरा और मृतक समान है।'

वहीं माखनलाल चतुर्वेदी जी भी देश के गौरव और अभिमान के प्रति अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं इसलिए साहित्य में उन्हें 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से जाना जाता है। इनका काव्य राष्ट्रीय एकता, अखंडता और विश्व बंधुत्व के साथ-साथ युवकों में राष्ट्रप्रेम, नवजागरण और समर्पण की भावना को दर्शाता है-

"द्वार बलि का खोल चल भूडोल कर दें,

एक हिम-गिरी एक सिर का मोल कर दें,

चढ़ा दे स्वतन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी,

विश्व माने-तू जवानी है, जवानी।"[61]

छायावाद युग

इस युग में सौंदर्य, प्रेम के काव्य के साथ राष्ट्रीयता के स्वर भी इस युग में समाहित है। छायावाद युग में प्रसाद जी अपने काव्य में जिस राष्ट्रीय चेतना का संचार करते हैं। वह अद्भुत है। चन्द्रगुप्त नाटक में लिखा उनका गीत- 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' आज भी उतना ही लोकप्रिय है, जितना उस समय में था। इस युग का सर्वाधिक ओजमय एवं प्रशस्त रूप रामधारी सिंह दिनकर जी के काव्य में मिलता है -

"जगती पर छाया करती थी हमारी भुजा विशाल,

बार-बार झुकते थे पद पर ग्रीक, यवन के उन्नत भाल,

विजयी चंद्रगुप्त के पद पर सेल्यूकस की मनुहार,

तुझे याद है देवी ! मगध का वह विराट उज्ज्वल श्रृंगार।"[62]

इसके अतिरिक्त इस युग के पंत, निराला, प्रसाद आदि छायावादी कवियों की रचनाओं में भी राष्ट्रीय भावनाओं का भरपूर चित्रण मिलता है। "ऐसी ही कविताओं में कवि पौरुषयुक्त में रूढ़ियों और परतंत्रता की बेड़ी को काटने के लिए समाज को ललकारता अपने देश के गौरवमयी अतीत की ओर ध्यान दिलाता और नवीन समाज व्यवस्था की स्थापना की कल्पना करता है। उदाहरण के लिए 'निराला' की सन 1924 ई. की लिखी 'उद्‌बोधन' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ-

"गरज गरज घन अंधकार में, गा अपने संगीत

बंधु, वे बाधा-बंध-विहीन,

आंखों में नव जीवन का तू अंजान लगा पुनीत,

बिखर झर जाने दे प्राचीन,

ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय कपाट।

खोल दे कर कर-कठिन प्रहार।"[63]

इस युग में राजनैतिक क्रांति, स्वतंत्रता संग्राम से संबंधित उत्साह आदि की काव्य में अभिव्यक्ति मिलती है।

स्वातंत्र्योत्तर तथा वर्तमान कालीन राष्ट्रीयता

सन् 1947 ई. के बाद भारत के स्वतंत्र होने पर कवियों का ध्यान अन्य विषयों की ओर गया। औद्योगिक विकास का प्रारंभ हुआ। समाज में उच्च और मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। राष्ट्रीयता की धारा थोड़ी मंद पड़ गयी। परंतु जब कालांतर में भारतीय सीमा पर चीन और पाकिस्तान ने आक्रमण किया तो एक बार कवियों की लेखनी में राष्ट्रीय भावना पुनः तीव्र हो गई।

वर्तमान में समाज में राष्ट्रीयता का अभाव दिखायी देता है क्योंकि समाज में जातीय तनाव, भ्रष्टाचार, पर्यावरण संकट, आदि गंभीर चुनौतियां पनपी हैं। जिसके कारण समाज में उदासीनता विद्यमान है किंतु राष्ट्र के हित की भावना सभी भारतीयों में आंशिक रूप से विद्यमान है। यह समय आने पर अपना प्रचंड रूप धारण कर लेती है क्योंकि भारतीयों की भावना राष्ट्र के प्रति सुप्त हो सकती है परंतु विलुप्त नहीं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किस प्रकार हिंदी साहित्य में आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति होती रही है परंतु सर्वप्रथम हमें अपनी आंतरिक ताकत अर्थात् सच्ची राष्ट्रीयता का विकास करना होगा, फिर अंतरराष्ट्रीयता की ओर ध्यान देना उचित होगा। हमारा देश हमारा राष्ट्र ही हमारा कुटुंब है। हमें राष्ट्रीय

एकता पर पूर्ण ध्यान देना होगा। तभी हम 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना को सही अर्थ प्रदान कर सकेंगे।

(ख) काव्यभाषा का स्वरूप तथा उपादान

काव्यभाषा भाषा की तरह व्यापक शब्द है। काव्यभाषा में दो शब्द निहित है एक है काव्य और दूसरा भाषा। सर्वप्रथम हम जानेंगे काव्य क्या है?

- **काव्य (कविता या पद्‌य)**

काव्य (कविता या पद्‌य) साहित्य की वह विधा है, जिसमें कवि या रचनाकर स्वयं की अनुभूति या मनोभाव को कलात्मक रूप से भाषा के द्‌वारा अभिव्यक्त करता है। कवि की जो अनुभूति होती है, जिसकी वह रसानुभूति करता है। अपनी रचना के द्‌वारा दूसरों को भी वही रसानुभूति करवाने के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहता है "कुंतक ने कवि-कर्म को काव्य की संज्ञा से अभिहित किया है। संस्कृत व्याकरणों ने ‘कवि’ शब्द के साथ ‘व्यथा’ प्रत्यय के योग से 'काव्य' शब्द की सिद्धि की है, जिसका अर्थ होता है कवि कौशल या कविता आदि।"[64]

काव्य वह रचना है जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् जिसमें चुने गए शब्दों द्‌वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। "काव्य एक वह ललित कला है, जिसमें कला-कौशल-पूर्ण

चारु चमत्कृत वैचित्र्य भी सरस, मधुर और मंजुल भाषा के द्वारा मानसिक भावों एवं भावनाओं का स्वाभाविकता, स्पष्टता और सुंदरता के साथ जीवनानुभूति की व्यंजना से पूर्ण ऐसा रमणीय चित्रण किया जाता है कि उससे हृदय अलौकिक- आनंद का अनुभव करने लगता है।"[65]

कवि जो भी अनुभव करता है, उसे स्वयं तक सीमित नहीं रखता। कवि अत्यंत भावुक तथा विचारशील होता है। वह अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुंचाकर उन्हें भी अपनी तरह प्रभावित करने के लिए उत्सुक रहता है। इस दृष्टि से काव्य के दो पक्ष हुए- एक अनुभूति पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति पक्ष। इन्हें क्रमशः भावपक्ष और कला पक्ष भी कहा जाता है।

काव्य आनंद प्रदान करता है। जिसमें सौंदर्य माधुर्य के साथ रमणीयता होती है। पंडितराज जगन्नाथ काव्य की परिभाषा देते हैं- 'रमणीयार्थ: प्रतिपादक: शब्द: काव्यम' अर्थात् रमणीयार्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द-समूह को काव्य कहते हैं। काव्य को 'वाक्यं रसात्मक काव्यम' भी कहा गया है। रसात्मक अर्थात् हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति जिस पदावली में होती है उसे काव्य कहा गया है। "काव्य का प्राण मुख्यतया रस है, भाव उसका हृदय, अर्थ-गौरव इसका मस्तिष्क या मन, भाषा उसका कलेवर और अलंकार उसको सुसज्जित करके सुंदर बनाने वाले आभूषण हैं। काव्य की इस मति में अभिधा, लक्षणा और

व्यंजना नामी तीन शक्तियां रहती हैं। माधुर्य, प्रसाद, लालित्य ओज और कांति नामक इस के मुख्य गुण है। सौंदर्य इसका मोहन स्वरूप है। आनंद देना इसका स्वभाव है। चमत्कृत, वैचित्र्य पूर्ण पद रचना की शैली इसकी रीति है।"[66] अतः काव्य की जननी है भाषा और भाषा से ही काव्य है ।

- **भाषा: अभिव्यक्ति का माध्यम**

भाषा विचारों अथवा भावों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। विचारों के अनेक स्तर भाषा की सहायता से ही खुलते हैं। मनुष्य के सौंदर्यानुभूति का स्तर उनमें से एक है। समस्त अनुभूतियों को सामाजिक संपर्क में लाने का काम भाषा करती है और भाषा की सहायता से हमारे चिंतन, भाव आदि की प्रतीति दूसरों को होती है।

कामता प्रसाद गुरु जी कहते हैं, भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकता है। वहीं क्रोंचे के अनुसार, भाषा उस स्पष्ट सीमित तथा संगठित ध्वनि को कहते हैं जो अभिव्यंजना के लिए नियुक्त की जाती है।

अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य की अभिव्यक्ति, विचारों, अमुक का माध्यम होती है भाषा। "भाषा काव्य का कलेवर है।"[67]भाषा का संबंध अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा कविता के साथ घनिष्ठ है।

- **काव्यभाषा का स्वरूप**

संसार में कवि भी अन्य मानवों की तरह ही जन्म लेता है किंतु वह अपने जीवन के प्रथम चरण से ही तन, मन और वाक् शक्ति का ग्रहण और उसका विकास इसी जगत में करता है। वह सर्वप्रथम लोकभाषा को ही सुनता है और अपनी प्रतिभा के आधार पर भावाभिव्यक्ति के अवसर पर उसी भाषा का आश्रय लेता है। कवि की कृति एवं उसकी काव्यभाषा का मूल लोकभाषा या सामान्य भाषा में ही संभावित होता है। "प्रत्येक विकसित भाषा के कई स्तर संभव है प्रथम स्तर पर कोई भाषा दो रूपों में विभक्त होती दिखाई देती है- बोलचाल की भाषा और वांग्मय की भाषा। द्वितीय स्तर पर वांग्मय की भाषा भी दो खंडों में विभाजित हो जाती है। जहां ज्ञान विज्ञान अर्थात् पारिभाषिक विवेचन की भाषा रचनात्मक साहित्य की भाषा से पृथक हो जाती है तृतीय स्तर पर पहुंचकर काव्य की भाषा काव्येतर रचनात्मक साहित्य से अलग अपनी विशेष पहचान बना लेती है। "[68]

चंदबरदाई, सूरदास, तुलसीदास और जायसी आदि कवियों ने इसी आधार पर अपने काव्य सृष्टि की इन सभी ने सामान्य भाषा का आधार पाकर ही काव्य द्वारा जनमन की निकटता ग्रहण की। सामान्य भाषा व्यवस्थित होने पर भी काव्यभाषा नहीं बनती। अगर ऐसा हुआ भी तो गद्य और पद्य में अंतर ही नहीं रहेगा और हर व्यक्ति कवि बन बैठेगा।

यह सत्य है कि काव्य भाषा का मूल आधार सामान्य भाषा ही होता है किंतु इसका प्रयोग काव्यभाषा के रूप में केवल प्रतिभाशाली कवि ही करता है, जो साधारण मनुष्य की शक्ति से परे होता है।

सामान्य भाषा का परिष्कृत, परिमार्जित, अलंकृत, भावपूर्ण, उत्कृष्ट विशेष रूप ही काव्यभाषा कहलाता है। उसकी शब्दावली, व्याकरण बहुत कुछ सामान्य भाषा के अनुसार ही होती है किंतु उसका प्रयोग उसमें नवीन अर्थों की योजना माधुर्य एवं छंद योजना, रस आदि साज-संवार कवि आवश्यकता अनुसार अपनी रागात्मक भावना की अभिव्यक्ति से करते हैं।

साहित्यिक भाषा व्याकरण सम्मत होती है। भाषा के सभी रूपों में भावाभिव्यक्ति को दिशा मिलती है। भाषा की ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य इत्यादि इकाइयों की समुचित योजना से साहित्य सृजन होता है। साहित्यिक भाषा में व्याकरणिक योग्यता के साथ व्यावहारिक क्षमता भी अनिवार्य होती है। दोनों योग्यताएं साहित्य का श्रेष्ठ रूप प्रदान करती हैं। साहित्यिक भाषा के दो रूप हैं-

1. गद्‌य भाषा,

2. कविता या काव्य की भाषा

कविता की भाषा बिम्ब की भाषा होती है। गद्‌य की भाषा से कविता में शब्द का बिम्बात्मक प्रयोग इस प्रकार भिन्न होता है-

"साधारणता गद्‌य में शब्द का महत्व इसलिए भी कम होता है कि उसमें वह अन्य बिम्बों का वाचक चिन्ह मात्र होकर आता है जबकि कविता में शब्द या तो बिम्ब होता है या कवि द्‌वारा संग्रथित बिम्ब विधान में उसका सुनियोजित स्थान होता है और रचना के आंतरिक संगठन के साथ इसकी आवयविक संधि रहती है। भावना का प्रवाह मूल बिम्ब विधान के साथ गतिशील रहता है। अतएव प्रत्येक शब्द उसका समर्थ वाहक बनकर ही अपनी वास्तविक उपादेयता सिद्ध कर पाता है।"[69]

काव्य भाषा और गद्‌य भाषा में अंतर केवल लक्ष्य को लेकर होता है। भाषा कई प्रकार की होती है। प्रत्येक भाषा का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है। काव्यभाषा का लक्ष्य तथ्यात्मक सूचना देना, दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रक्रियाओं दैनिक जीवन के क्रियाकलापों को चलाना ही नहीं होता बल्कि कवि की अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त करना होता है ताकि पाठक या जनसाधारण भी उसी अनुभूति को जागृत कर सके।

'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' ने अपनी कृति में लिखा है कि- "कविता और गद्‌य की भाषा में अंतर लयात्मकता,छन्दोबद्धता, वाक्य रचना में भी दिखता है। गद्‌य में वाक्य की स्पष्ट सत्ता होती है किंतु काव्य में वाक्य की स्पष्ट सत्ता समाप्त तो नहीं, अस्पष्ट अवश्य हो जाती है। छंदोबद्ध काव्य में चरण का अस्तित्व अवश्य होता है, परंतु प्रत्येक चरण वाक्य की तरह अर्थ की दृष्टि से पूर्ण नहीं होता। गद्‌य लयात्मक हो सकता है

किंतु काव्य में लयात्मकता अपेक्षित है। नाद-सौंदर्य की सृष्टि करने पर भी काव्यभाषा ध्यान देती है। कविता छंदोबद्ध हो सकती है किंतु गद्य छंदोबद्ध नहीं होता।"[70] साहित्यकार अपनी रचना को साकार रूप देने के लिए काव्यभाषा और गद्यभाषा का प्रयोग करता है। काव्य भाषा वह है। जिसका प्रयोग सृजनात्मक साहित्य में होता है तथा गद्य भाषा वह है जिसका प्रयोग व्याख्यात्मक साहित्य में होता है। यदि हम 'शुक्ल' जी की भाषा में देखें तो "कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है, पर कहानी सुनने वाला कहता है, हां! तब क्या हुआ?"[71]

अर्थात् गद्य की अपेक्षा काव्य की भाषा का जनसाधारण पर आंतरिक रूप से अधिक प्रभाव पड़ता है और वह वापस उसी लय में खो जाना चाहता है। गद्य में शब्द का मुख्यत: अभिधेयार्थ उपयोग होता है। कविता में शब्द अनुभूति की आंतरिक शक्ति के रूप में प्रयोग होता है। गद्य की भाषा का पूर्ण व्याकरण सम्मत रूप होना अनिवार्य है, हिंदी भाषा की वाक्य रचना में कर्ता, कर्म क्रिया का प्रयोग किया जाता है। काव्यभाषा की छन्दोबद्धता उसे लयात्मक रूप और गेय रूप प्रदान करती है। प्रयोगवादी धारा के आगमन से मुक्त छंद के प्रयोग से काव्य को नया रूप मिला है जिसमें लयात्मकता का प्रभावी रूप होता है। काव्यभाषा की रचना में कई तत्व होते हैं, जैसे- अलंकार, प्रतीक, बिम्ब,

लयात्मकता, गेयता, शाब्दिक वक्रता आदि। यही वे तत्व है जो कविता की भाषा को गद्य की भाषा से अलग करते हैं। "कविता की भाषा का एक मुख्य तत्व भावचित्रों अथवा बिंबों का विधान है।"[72] बिम्ब अनुभूतियों को उजागर करने का कार्य करता है। काव्यात्मक बिम्ब एक संवेदनात्मक चित्र है जो एक सीमा तक अलंकृत, भावात्मक और आवेगात्मक होता है। कविता में प्रत्येक शब्द के अर्थ का अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि गद्य में किसी शब्द के पर्याय का उपयोग हो सकता है परंतु कविता में विशेष शब्द का स्थान किसी और शब्द को देने से उसका पूर्ण स्वरूप प्रभावित होता है। इसके साथ-साथ काव्य में ध्वनि, अलंकार, छंद, तुक, लय आदि का भी विशेष महत्व होता है।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि कविता की भाषा बिम्बात्मक, चित्रात्मक तथा संदर्भ मूलक होती है।

- **काव्य भाषा के भेद**

1) शास्त्रीय काव्य भाषा

2) राष्ट्रीय काव्य भाषा

शास्त्रीय काव्यभाषा के अंतर्गत उन विषयों की चर्चा की जाती है जिनकी विवेचना भाषा के अंगों के रूप में रीति या लक्षण ग्रंथों में

मिलती है। जैसे अलंकार, शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति, रीति, दोष, छंद, ध्वनि, भेद, लक्षण, हेतु, प्रयोजन आदि।

राष्ट्रीय काव्य भाषा, भाषा का वह स्वरूप है। जिसमें ओजगुण के साथ वीर रस की प्रधानता होती है तथा भाषा कवि के प्रबल भाव संवेगों को धारण करने में सक्षम होती है।

शास्त्रीय काव्य भाषा के अंतर्गत विषयों का विवरण इस प्रकार है-

काव्य के भेद

काव्य के प्रधान रूप से दो भेद है। परंतु बाद में "आचार्य दंडी ने 'गद्य' और 'पद्य' नामक दो काव्य भेदो में 'मिश्र' नामक तीसरा भेद और जोड़ लिया।"[73]

काव्य के तीन भेद किए जा सकते हैं-

1) शैली की दृष्टि से

2) अर्थ की दृष्टि से

3) निर्बंध की दृष्टि से

1. शैली के विचार से काव्य के तीन भेद किए जाते हैं- पद्य, गद्य और मिश्र।

- **पद्य** - काव्य की उस शैली को पद्य कहते हैं जिसमें व्याकरण के सामान्य क्रम का उल्लंघन किया जा सकता है। इसमें रचनाकर को व्याकरणित नियमों की छूट होती है। जैसे - कविता
- **गद्य** - काव्य की वह शैली गद्य कहीं जाती है जिसमें व्याकरण के नियमों का पालन होता है। वाक्यों का विन्यास व्याकरण के नियमानुसार होता है। जैसे- कहानी, निबंध और उपन्यास आदि।
- **मिश्र** - यह वह शैली है जिसमें पद्य और गद्य दोनों का मिश्रण रहता है। इसे चंपू काव्य के नाम से भी जाना जाता है। जैसे - नाटक

2. अर्थ की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किए जाते हैं- उत्तम, मध्यम तथा अधम या सामान्य। जब हम किसी रचना के वाक्य या पदावली को पढ़ते हैं उसका जो सीधा अर्थ निकलता है उसे मुख्यार्थ कहते हैं। कभी-कभी उन्ही शब्दों से 'मुख्यार्थ' के अतिरिक्त निकले अन्य अर्थ को ‘व्यंग्यार्थ’ कहते हैं। कभी-कभी वाक्य में जब कहीं मुख्यार्थ की विशेषता दिखाई देती है, कहीं मुख्यार्थ और व्यंगार्थ दोनों की समानता दिखाई देती है। कहीं मुख्य मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक विशेषता दिखती है। इन्हीं के अनुसार अर्थ की दृष्टि के आधार पर काव्य के भेद किए जाते हैं।

- **उत्तम या ध्वनि काव्य-** जहाँ पर व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा चमत्कारी होता है।
- **मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य काव्य-** जहाँ पर व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ समान हो परंतु व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ से दबता हो।
- **अधम या सामान्य या अलंकार काव्य-** जहाँ सिर्फ मुख्यार्थ में ही विशेषता रहती है। वह अधम अथवा सामान्य काव्य है।

3. निर्बंध की दृष्टि से काव्य के भेद इस प्रकार किए जाते हैं - प्रबंध और मुक्तक।

   प्रबंध- प्रबंध काव्य ऐसी रचना को कही जाती है जिसमें कोई कथा क्रमबद्ध कही गयी हो।

- प्रबंध काव्य के भी दो भेद मिलते हैं -

  महाकाव्य- जिसमें संपूर्ण जीवन वृत्त विस्तार के साथ वर्णित किया गया हो। इसमें विविधता और विस्तार होता है।

  खंडकाव्य- इसमें जीवन वृत्त की किसी एक प्रमुख विशेषता का चित्रण होने के कारण अधिक विविधता और विस्तार नहीं होता।

- **मुक्तक काव्य** - इसमें कथा सूत्र आवश्यक नहीं है, इसीलिए इसमें घटना और चित्रण के अनिवार्य प्रसंग में भाव-योजना नहीं होती यह एक स्वतंत्र रचना होती है, जिसे किसी भाव विशेष को आधार बना कर किया जाता है।

- **काव्य तत्त्व**

काव्य को साकार शरीर का रूप प्रदान करने वाले तत्वों को काव्य तत्व कहा गया है। इन तत्त्वों को शब्द, बुद्धि, कल्पना, अर्थ और भाव के नाम से जाना जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का अत्यधिक महत्व है। इसी के संबंध में तुलसीदास जी कहते हैं- 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न' जिसका अर्थ है जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और जल की लहर के समान कहने में अलग-अलग है, लेकिन वास्तव में अभिन्न यानी एक हैं। दोनों एक दूसरे से संबंधित है।

शब्द तत्त्व- काव्य में शब्द तत्व की विशेषता विद्यमान होती है। शब्द तत्व के विविध रूप होते हैं जैसे- अलंकारों का शब्दगत चमत्कार शब्द चयन से उत्पन्न पद की एक विशेष गति और प्रवाह संगीतमयता आदि काव्य को सुनने के बाद पहला प्रभाव इसी तत्व के द्वारा पड़ता है। यही कविता को चिरकाल तक रमणीय बनाये रखता है। शब्द की दो प्रकार की गति होती है-

1. साधारण
2. नर्तन

साधारण गति गद्य में तथा नर्तन पद्य में मिलती है-

"आनंद उमंग मन, यौवन उमंग तन,
रूप की उमंग उमगति अंग-अंग है"[74]

उपरोक्त पंक्ति में एक गति की झलक मिलती है जो शब्द तत्व से ही संभव है अतः कवि शब्द के व्यक्तित्व और चरित्र का पारखी होता है।

अर्थ तत्त्व- काव्य में शब्द जब स्वयं का त्याग कर देता है तो वह अपने अर्थ को छोड़ देता है। अतः शब्द के उपरांत अर्थ है जिसके बिना काव्य का कोई अस्तित्व नहीं। अर्थ के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तीन प्रमुख शक्तियाँ मानी गई है। अर्थ का औचित्य बुद्धि तत्व पर अर्थ की साकारता कल्पना तत्व पर, अर्थ का प्रभाव भाव तत्व पर निर्भर करता है। अतः अर्थ का इन सभी तत्वों के साथ संयोग रहता है। काव्य का पूर्ण सौंदर्य तब होता है, जब शब्द, अर्थ बुद्धि भाव तथा कल्पना सब का चमत्कार एक साथ हो वही सर्वश्रेष्ठ काव्य पंक्तियां हैं जिनमें ये सभी तत्व विद्यमान है।

बुद्धि तत्त्व- बुद्धि तत्व या विचार का महत्व इस बात में है कि कल्पना, भाव आदि का उचित संयोजन और शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण है औचित्य के बिना विश्वसनीयता और प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। प्रमुखतया इसका स्वरूप कथा संगठन चरित्र-चित्रण और भाव निरूपण के क्षेत्र में देखा जाता है। यह बुद्धि तत्व का ही क्षेत्र है।

कल्पना तत्त्व- कल्पना विविध दृश्यों को सामने लाने वाली है। कल्पना की कोई सीमा नहीं होती। इसी संबंध में कहा गया है- 'जहाँ न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि'। कवि एक बंद कमरे में बैठे-बैठे अपनी कल्पना शक्ति से

स्वर्ग की सैर कर लेता है और अपनी ऐसी ही अनगिनत अनुभूतियों को सहृदय पाठक, श्रोता या दर्शक तथा समाज के सामने रखता है। निराकार वस्तुओं और भाव को आकार देना तथ्य को चित्रमय बनाना, चरित्र या पात्र को साक्षात कर देना, घटना की पृष्ठभूमि प्रकट करना और भावों को जगाने वाली चित्रमय शब्दों को अंकित करना कल्पना के द्वारा ही होता है। भावों की सजीव अभिव्यक्ति, कल्पना और बिम्ब योजना कल्पना के द्वारा होता है। ये विचारों को भी उत्तेजित करते हैं। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है।

भाव तत्त्व- भाव, मनोवेगों के संस्कार रूप में प्रतिष्ठित अनुभूति स्वरूप है। काव्य में भाव तत्व सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है। भाव कवि की कल्पना का प्रेरक है। भाव की तीव्रता अभिव्यक्ति की उद्दीपक है। बिना किसी उक्ति चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्न के भी भाव तत्व का गहरा प्रभाव काव्य में रहता है। भाव तत्व की प्रधानता से युक्त कुछ उदाहरण -

‘माली आवत देखि के, कलियन करी पुकार

फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार।’

लोकगीतों का भाव-प्रधान रूप गीति रूप में दिखता है, वे वास्तव में काव्य के भाव तत्व को ही प्रमुख रूप में स्वीकार करते हैं।

- **काव्य के हेतु**

काव्य निर्माण के क्षेत्र में दो प्रकार के तत्व कार्य करते हैं- एक काव्य निर्मित होने से पूर्व और दूसरा काव्य निर्माण के बाद। काव्य निर्माण से पहले जो तत्व विद्यमान होते हैं वह काव्य हेतु कहलाते हैं।

साहित्यिक विद्वान प्रतिभा, चिंतन, मनन और अभ्यास को ही काव्य हेतु मानते हैं, इस प्रकार प्रमुख काव्य कारण इस प्रकार है-

1) **प्रतिभा-** प्रतिभा को काव्य का प्राण माना जाता है। अलंकार रीति, गुण आदि का प्रयोग कवि अपनी प्रतिभा के अनुसार ही करता है। प्रतिभा यद्यपि जन्मजात शक्ति है। अधिकांश विद्वानों ने इसे सहज माना है। अरस्तू ने इसी शक्ति को कवि का दिव्य तथा गुण कहा है। अदृश्य वस्तु भी दृष्टिगोचर होती है। कवि की यही दृष्टि प्रतिभा है इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतिभा के बिना काव्य निर्माण असंभव है। अतः प्रतिभा को ही प्रमुख कारण माना गया है।

2) **व्युत्पत्ति-** व्युत्पत्ति का अर्थ है- 'विशेष उत्पत्ति अथवा उद्गम'। संस्कृत विद्वानों ने काव्य हेतुओं में विशेष स्थान निपुणता को दिया है। मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है। मम्मट के विचार में लोकशास्त्र तथा काव्य आदि के अध्ययन तथा निरीक्षण से यह निपुणता प्राप्त होती है, अर्थात् व्युत्पत्ति दो प्रकार की होती है-

1) लौकिक व्युत्पत्ति

2) शास्त्रीय व्युत्पत्ति

लौकिक व्युत्पत्ति निरीक्षण से और शास्त्रीय व्युत्पत्ति शास्त्रों के निरंतर व गहन अध्ययन से प्राप्त होती है।

शास्त्र शब्द में छंद व्याकरण, नृत्य, गीत, चित्रकला आदि 64 (चौंसठ) कलाओं की जानकारी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि संबंधी ज्ञान, विभिन्न दर्शनों, सिद्धांतों का ज्ञान आदि का समावेश होता है। लोक शब्द के अंदर सृष्टि का समावेश होता है। इस प्रकार के लोकशास्त्रों का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति पांडित्य प्राप्त कर सकता है। विद्‌वान व्यक्ति ही अन्य व्यक्ति को चेतना प्रदान कर सकता है। उसमें जागृति, क्रांति आदि का ध्यान रखता है। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभा प्राप्त कर सकता है।

3) अभ्यास- अभ्यास के बिना कविता संपन्न हो सकती है किंतु व्यवस्थित नहीं। 'भामह' के विचार में कवि को शब्द और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना और सतत अभ्यास द्‌वारा उसकी उपासना करनी चाहिए। दंडी ने भी काव्य हेतुओं में अभ्यास को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ‘आचार्य मम्मट’ के अनुसार निरंतर अभ्यास से कवि की रचना परिपक्व बनती है। वास्तव में काव्य को आकर्षक, सुंदर अभ्यास द्‌वारा ही बनाया जाता है। दोष रहित और गुणों से संपन्न ऐसा काव्य सृजन सतत अभ्यास द्‌वारा ही संभव है।

निष्कर्षतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास यह तीनों काव्य के प्रमुख उत्पादक कारण हैं। इनके अतिरिक्त शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य व परिस्थितियाँ आदि काव्य निर्माण में सहायक कारण होते हैं।

- **काव्य के प्रयोजन**

काव्य निर्माण के पहले जो तत्व विद्यमान होते हैं, उन्हें काव्य हेतु कहा जाता है और वैसे ही जो तत्व काव्य निर्माण के पश्चात कार्य करते हैं। वे भौतिक जगत व बाह्य जगत से संबंधित होते हैं। इन्हें ही काव्य प्रयोजन व काव्य उद्देश्य कहा जाता है। काव्य निर्माण के प्रसार सीमा में जहां एक ओर लेखक, रचयिता, कवि होता है वहीं दूसरी ओर दर्शक, श्रोता या पाठक होता है। अतः काव्य के प्रयोजन का विचार इसी दृष्टि से किया जाता है। कविगण यश की इच्छा से काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं। उनके लिए अर्थ का लाभ गौण है। कवि को जो यश का लाभ होता है वह उनके जीवित रहने तक ही नहीं रहता बल्कि उनकी मृत्यु के बाद भी युग-युगांतर तक चलता रहता है। उदाहरण के लिए कालिदास, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे अनेक कवि आज भी अमर है।

काव्य रचना का एक प्रयोजन धन प्राप्ति भी रहा है। अर्थ प्राप्ति की इच्छा से रीतिकाल के कवियों ने राजपथ दरबारों में आश्रय ग्रहण

किया। कहते हैं कि बिहारी को प्रत्येक दोहों की रचना के लिए एक अशर्फी प्राप्त होती थी।

आधुनिक युग में भी कवि सम्मेलनों में अनेक कवि अपनी कविताओं को गाकर, सुनाकर धन एकत्रित कर रहे हैं। 'व्यवहार ज्ञान' को भी काव्य का प्रयोजन माना है। बहुत से कवि अपने निकट संबंधियों को मित्रों या पुत्रादि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य रचना करते हैं। अपने युग और समाज को अनिष्ट से बचाने के लिए भी काव्य रचना की जाती है। 'कुरुक्षेत्र' के रचयिता 'दिनकर' ने अपने काव्य में विश्व को युद्ध के अनिष्ट से बचाने के लिए ही शांति का संदेश दिया। काव्य रचना के अनंतर कई बार कवियों को अपूर्व शांति एवं आनंद का अनुभव होता है, अतः इसे भी काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है। अपने उपदेश, विचार और सिद्धांत को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए भी काव्य को माध्यम के रूप में अपनाया जाता है, इसलिए कबीर, नानक, आदि संतकवियों ने अपने विचारों का माध्यम कविता के माध्यम से किया। काव्य का उपदेश 'कान्ता सम्मित उपदेश' है जो हितकर भी है, रुचिकर भी है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

- **काव्य के लक्षण**

वैसे काव्य का स्वरूप यद्‌यपि लक्षण में बद्ध तो नहीं किया जा सकता। परंतु यहां उसके महत्वपूर्ण लक्षणों के विश्लेषण और विवेचन द्‌वारा के इन लक्षणों को दर्शाया गया है।

भामह- भामह के अनुसार शब्द और अर्थ सहित भाव काव्य कहलाता है -

"शब्दार्थो सहितौ गद्‌यं पद्‌यं च तद विधा।"[75]

दंडी- दंडी ने जो काव्य का लक्षण दिया है उसमें शरीर अर्थात शब्दार्थ के वैशिष्ठ्य को बताने का प्रयास किया है -

"शरीर तावद् इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली"[76]

इनके अनुसार, इष्ट अर्थ से परिपूर्ण पदावली काव्य का शरीर है।

वामन- वामन की अनेक मान्यताओं के अनुसार, "काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो दोष रहित हो तथा जिसमें गुण नित्य रूप से और अलंकार अनित्य रूप से विद्‌यमान हो, और इसकी आत्मा है रीति।"[77]

विश्वनाथ- विश्वनाथ द्‌वारा दिया गया काव्य-लक्षण है - "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" [78]

आचार्य महावीर प्रसाद द्‌विवेदी - इन्होंने काव्य के संबंध में विभिन्न पक्षों पर विचार प्रकट किए हैं -

"कविता प्रभावशाली रचना है जो पाठक या श्रोता के मन पर आनंददायी प्रभाव डालती है। मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं, वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक। अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।"[79]

डॉ. नगेंद्र- "रमणीय अनुभूति, उक्ति वैचित्र्य और छंद... इन तीनों का समन्वित रूप ही कविता है।"[80]

सुमित्रानंदन पंत के अनुसार "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है"[81]

डाइड्रन का विचार है कि- "कविता सुस्पष्ट संगीत है।"[82]

यह लक्षण सर्वत्र सत्य नहीं है अनेक गीत जो गाए जाते हैं वे सभी काव्य की विशेषताएँ नहीं रखते हैं।

कालरिज की मान्यता है कि "सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है।"[83]

डॉ. जॉनसन ने "कविता को उस कला के रूप में स्वीकार किया है जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनंद से समन्वित करती है।"[84]

निष्कर्षतः काव्य के लिए आवश्यक नहीं कि वह सदैव संगीतमय मधुर शब्दों के रूप में ही हो। काव्य में पुरुषावृत्ति भी महत्वपूर्ण है जिसमें वीरता, क्रोध, भय आदि के भाव प्रकट होते हैं। अतः कविता के लिए मधुर से अधिक लयात्मक एवं प्रभावकारी शब्द आवश्यक है। अतः

हम डॉ. जानसन की परिभाषा का भाव उपयुक्त लक्षण के साथ जोड़कर कह सकते हैं कि-काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की कला काव्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह काव्य की कला है, उसका कलात्मक पक्षमात्र है, पूरा काव्य नहीं, संपूर्ण अभिव्यक्ति ही काव्य है।

- **काव्य के गुण**

काव्यानुभूतियों को वहन करके उसे अभिव्यक्ति देने का काम भाषा करती है। इसी कारण भाषा को काव्य का कलेवर भी कहा जाता है "जैसे व्यक्ति के व्यक्तितत्व के अनुरूप ही उसमें गुणों की परिकल्पना की जाती है या विशेष प्रकार के गुणों से ही विशिष्ट व्यक्तितत्व का परिचय प्राप्त होता है। उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में जो तत्व या तथ्य 'अनुभूति' एवं सौंदर्य को एक विशिष्ट रूप- आकार प्रदान करते हैं। उन्हें 'गुण' नाम से पहचाना जाता है।"[85] मनुष्य में जिस प्रकार शरीर पक्ष से बाह्य और आंतरिक गुण होते हैं जो कि आत्मपक्ष से संबंधित होते हैं। उसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ गुण होते हैं जो काव्य की शोभा में वृद्धि कर काव्य को चमत्कृत करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य गुण पर व्यापक चर्चा की है। भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य भरत, दंडी और वामन के विपरीत आचार्य आनंदवर्धन ने मात्र माधुर्य, ओज और प्रसाद यह तीन गुण माने हैं। आनंदवर्धन ने इसका लक्षण प्रस्तुत किया और

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने अधिक स्पष्टता प्रदान की है। गुण काव्य की शोभा के जन्मदाता है। इनसे काव्य की शोभा बढ़ती है। गुणों को रस का धर्म कहा जाता है। माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण हैं। "जो रस के धर्म है और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है वे गुण हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चेतन आत्मा को उस (आत्मा) में रहने वाले वीरता आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं, उसी प्रकार काव्य रूपी शरीर में प्राणभूत रस को उस (रस) में रहने वाले माधुर्य आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं इससे स्पष्ट है कि गुण रस के धर्म है- उसके अंतरंग पदार्थ हैं।"[86]

वहीं डॉ. नगेंद्र के अनुसार- "मम्मट ने उत्तर ध्वनि काल के आचार्यों की गुण विषयक धारणाओं को पारिभाषिक शब्दों में बांध दिया। गुणों का स्पष्टत: रस से संबंध स्थापित हो गया- शब्दार्थ के साथ उसका संबंध केवल अनौपचारिक ही माना गया है। तदुपरांत गुणों के स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखते हैं- 'मूलत: रस के साथ संबंध होते हुए भी गुण शब्दार्थ से भिन्न नहीं है उन्हें रस के धर्म ही मानना चाहिए। निष्कर्षतः गुण मूलत: रस का गौण रूप में उत्कर्ष करते हैं। इनकी सत्ता स्वतंत्र है काव्य की आत्मा यदि रीति है तो नीति भी आत्मा का गुण है।"[87]

प्राचीन संस्कृत साहित्य में गुणों की संख्या अधिक है परंतु वर्तमान में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण काव्यशास्त्र में उपलब्ध है।

माधुर्य गुण- जिस काव्य रचना से अंतःकरण आनंदित या आनंद से द्रवित हो जाए वहां माधुर्य गुण होता है। माधुर्य गुण से चित्त प्रसन्न हो उठता है। " आचार्य मम्मट के अनुसार यह क्षमता उस रचना में होती है जिसमें ट, ठ, ड को छोड़कर क से लेकर म तक के अक्षर ङ, ण, न, म से मुक्त ह्रस्व स्वर और ण समासाभाव या अन्य समास के पद आदि की प्रतिष्ठा होती है।"[88] माधुर्य गुण की स्थिति शृंगार रस में अधिक रहती है।

"रूपसी तेरा धन-केश-पास।
श्यामल श्यामल कोमल कोमल।"[89]

उपरोक्त पंक्ति में विषय की कोमलता के समान ही कोमल कांत शब्दों का प्रयोग किया गया है जो स्वत: ही माधुर्य की सृष्टि करने वाला है।

ओज गुण- जिस काव्य से चित्त में स्फूर्ति और मन में तेज उत्पन्न हो जाए, उसमें ओज गुण निहित होता है। जहां पर द्वित्व वर्णों तथा संयुक्त वर्णों 'र' के संयोग और ट, ठ, ड, ढ की अधिकता हो वहां ओजगुण होता है। ओजपूर्ण कविता के श्रवण मात्र से मन में जोश और आवेग का संचार हो जाता है यही कारण है कि वीर, वीभत्स और रौद्र रसों के लिए ओजगुण की ही योजना की जाती है।

"बजा लोहे के दंत कठोर नचाती हिंसा जिह्वा लोल।
भृकुटि के कुंडल वक्र मरोर फुँहुकता अन्धरोष खोल।
बहा नर शोणित मूसलधार मुंड-मुण्डों का कर बौछार

प्रलय घन सा घिर भीमाकार गरजता है दिगंत-संहार

छेड़ स्वर शस्त्रों की झनकार महाभारत गाता संसार।"[90]

प्रसाद गुण- जिस काव्य के पढ़ते या सुनते ही पाठक, श्रोता या दर्शक के मन में; हृदय में उसका अर्थ स्वत: प्रकाशित हो जाए ऐसी काव्य रचना में प्रसाद गुण की स्थिति मानी जाती है। यह गुण अत्यंत सरल व सुबोध होता है। पंक्ति से गुजरते ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है। प्रसाद गुण को और उसके महत्व को समझने के लिए सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'भिक्षुक' कविता की पंक्ति को हम देख सकते हैं-

‘वह आता

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता

पेट पीठ दोनों मिलकर है एक,

चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को

मुंह फटी पुरानी झोली को फैलाता,

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

- **काव्य के दोष**

काव्य सौंदर्य में जब विकृति होती है तो उसे काव्य-दोष कहा जाता है। इस विकृति में शब्द, अर्थ, रस आदि दोष सम्मिलित है। आनंदवर्धन

और अभिनव गुप्त ने दोष को सर्वथा आंतरिक माना है। काव्य की आत्मा जिससे खंडित हो वह काव्य दोष है।

आचार्य मम्मट के अनुसार "मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयादवच्य:"[91]

अर्थात् दोष वह होता है जिससे मुख्यार्थ की हानि होती है। रस ही काव्य का मुख्य अंश है और यदि वह खंडित और प्रभावहीन हो रही हो तो वहां काव्य दोष है।

दंडी की मान्यता है कि "दोष गुण से विपरीत होते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सुंदर शरीर पर श्वेत कुष्ठ के एक दाग से सारी शोभा विनिष्ट हो जाती है।"[92] इसका अर्थ है कि काव्य में भी यदि कोई त्रुटि पायी जाए तो सम्पूर्ण काव्य की शोभा भी नष्ट हो जाती है।

काव्य दोष के भेद

शब्द, अर्थ और रस को आधार मानकर रस के शब्द दोष, अर्थ दोष और रस दोष ये तीन दोष आचार्यों द्वारा सर्वसम्मत से माने जाते हैं।

शब्द-दोष- काव्य में सर्वप्रथम दोष शब्द का होता है। इस प्रकार यदि काव्य में शब्द दोष है तो संपूर्ण कविता का आनंद एवं प्रभाव बाधित हो जाता है। आचार्य मम्मट ने 16 प्रकार के दोषों को बताया है- "(1) श्रुतिकटु (2) च्युतसंस्कृति (3) अप्रयुक्त (4) असमर्थ (4) निहितार्थ (5) अनुचितार्थ (6) निरर्थक (8) अवाचक (9) तीन प्रकार (व्रीडा, निंदा,

अशुभ) का अश्लील (10) संदिग्ध (11) अप्रतीत (12) ग्राम्य (13) नेयार्थ (जो केवल पदगत तथा समासगत भी हुआ करते हैं) तथा (14) क्लिष्ट (15) अविमृष्ट विधेयांश (16) विरुद्धमतिकृत"[93]

श्रुतिकटु दोष का उदाहरण-

"कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता

पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।"[94]

जब कविता में भाषा के अनुशासन व व्याकरण के नियमों का उल्लंघन किया गया हो वहां च्युत संस्कार दोष माना जाता है।

"मरम वचन जब सीता बोला" [95]

सारांश रूप में जहां शब्द यथार्थ को समझने में बाधा उत्पन्न करता है वहाँ शब्द दोष होता है। आचार्य एवं शास्त्रकारों ने शब्द दोषों के विभिन्न भेद एवं उपभेदों के माध्यम से यही बताने का प्रयास किया है कि कविता में सरल, सहज एवं बोधगम्य शब्दों का उपयोग होना चाहिए दोष हमेशा त्याज्य ही रहे हैं और यही कविता की असफलता के कारण भी है।

अर्थ दोष- जिस काव्य में अर्थ मुख्यार्थ का बाधक होता है वहां अर्थ-दोष होता है। अर्थ दोष में विद्वानों ने इनकी संख्या 27 तक बताई है। इनमें से कुछ प्रमुख दोष है- अप्रष्टार्थ, कष्टार्थ, पुनरुक्तत्व, दुष्क्रम, व्याततत्व, ग्राम्यत्व, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्ध-विरुद्ध, विद्या-विरुद्ध, अनविकृत, साकाक्ष,

अपदयुक्त, सहचर-भिन्नत्व, प्रकाशित, विरुद्ध, अश्लीलता आदि। इन सारे दोषों से कविता का मूल अर्थ बाधित होता है।

अर्थ दोष की एक झलक-

"देशभक्त नर जो है अब वे, अब वे देशद्रोह कर रहे यहाँ।"[96]

यहाँ देशभक्तों को ही देशद्रोही होने का आरोप लगाकर अपकर्ष दिखलाया गया है।

रस-दोष- काव्य का मुख्य धर्म रस प्रदान करना होता है। जहाँ पर रस मुख्यार्थ में बाधा उत्पन्न करता है। वहाँ रस-दोष होता है अर्थात् जिन तत्वों के कारण रस की अनुभूति, सौंदर्य की अभिव्यक्ति में दोष आता है, उसे रस-दोष कहा गया है। " मम्मट ने इस प्रकार के दोषों का वर्णन किया है-

(1) रस को बार-बार उदित करना उद्दीप्त करना

(2) अवसर के प्रतिकूल रस को विस्तार देना

(3) असमय में रस को समाप्त कर देना

(4) गौण या अंगभूत प्रश्नों को अत्यंत विस्तार देना

(5) प्रधान या अंगीरस की उपेक्षा करना

(6) प्रकृतियों का विपर्यय कर देना

(7) अपोषक रसों को सामने लाना

(8) रस की उपस्थिति में अपूर्णता"[97]

रस दोषों के परिहार के लिए आचार्य ने अनेक प्रविधियाँ बताई हैं, लेकिन यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि रसों का दोष रहित होना ही कविता को कविता बनाता है।

जिस प्रकार कुपुत्र माता-पिता के लिए निंदा का भाव होता है, उसी प्रकार दोषपूर्ण काव्य की भी निंदा होती है। चाहे उसमें शब्द, अर्थ और रस दोष कोई भी एक क्यों न हो। कविता का अपकर्ष न हो इसके लिए कवि को काव्य दोषों से बचकर रहना ही उसे श्रेष्ठ कवि बनाता है।

- **रस**

जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं होता है वह निष्प्राण होता है उसी प्रकार रस के बिना काव्य भी नीरस होता है। "तैत्तिरीय उपनिषद की मान्यता है कि 'रसो वै स:' रस आनंद स्वरूप ब्रह्म है।"[98] इसी कारण से रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। काव्यानंद से अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्यानंद को रस के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहा अर्थात् रसमय रचना ही काव्य है। वहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। रस का अनुभूति से संबंध होता है। काव्य या नाटक को जब हम पढ़ते हैं तो हमारे भीतर क्रोध, करुणा, प्रेम, भय आदि भावों की जो अनुभूति होती है। उसे हम काव्यानुभूति या रसानुभूति कहते हैं। रस

की अनुभूति पाठक, श्रोता या दर्शक को होती है। काव्य में रस का विशेष महत्व होता है। यदि कविता में शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तो रस उसके प्राण कहे जाएंगे। एक छोटे से छोटा वाक्य भी काव्य की श्रेणी में आ सकता है। यदि उसमें रसानुभूति कराने का सामर्थ्य है। वहीं एक बड़े से बड़ा व्याख्यान या विवेचन में यदि रसानुभूति कराने का सामर्थ्य नहीं तो वह काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। सारे शब्द काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकते। 'रमणीयार्थ प्रतिपादकं शब्दं काव्यम्' अर्थात् जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे वह काव्य है। रमणीयार्थ का अर्थ है चित को आकर्षित करने वाले शब्द काव्यशास्त्र में इसे ही काव्य कला कहा जाता है। यह कवि की प्रतिभा के ऊपर निर्भर करता है कि वह कैसे शब्दों का उपयोग करता है। इसके लिए उसे अपनी काव्य कला, प्रतिभा तथा कल्पना सामर्थ्य का प्रयोग करना पड़ता है।

रस के तत्त्व

जिस काव्य को सुनने या पढ़ने से श्रोता, पाठक या दर्शक के मन में जो विलक्षण आनंद आता है उसे रस कहते हैं। रस मूर्त नहीं अमूर्त विषय है। रस के चार अवयव माने जाते हैं- विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव और संचारी भाव।

आचार्य भरतमुनि के अनुसार, "विभावनुभाव-व्यभिचारी संयोगद् रस निष्पत्ति:"[99] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) आदि भावों के संयोग से रस निर्मित होता है।

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं, "रस अखंड, स्व-प्रकाश, आनंदमय, चिन्मय, वेदांतर और स्पर्श शून्य, ब्रह्मानंद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण होता है।"[100]

डॉ. भगीरथ मिश्र का कहना है कि, "रस एक प्रकार का विशेष आनंद है जो काव्य के पठन, श्रवण अथवा नाटक को देखने में (दर्शक) को प्राप्त होता है।"[101] अतः हम कह सकते हैं कि जब स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव (व्यभिचारी) भावों से परिपुष्ट होकर परिपक्व अवस्था में पहुंचता है और जब उसके आस्वादन से सहृदय जनों के हृदय में जो आनंद जागृत होता है, उसे रस कहते हैं। रस की अनुभूति में रस के चार प्रकार के अंग होते हैं-

1) विभाव

विभाव का अर्थ होता है 'कारण' अथवा 'हेतु'। स्थायी भावों की उत्पत्ति के जो कारण होते हैं उसे विभाव कहते हैं। अति सूक्ष्मता से जो भाव हृदय में बसे होते हैं उन भावों को यह जागृत करते हैं।

विभाव के दो प्रकार है होते हैं -

I. आलंबन विभाव

II. उद्दीपन विभाव

आलंबन विभाव वह है जिस पर आलंबित होकर स्थायी भाव उत्पन्न हो। स्थायी भाव को जगाने के कारण को आलंबन कहते हैं।

उद्दीपन विभाव वह है जो मन में जागृत भाव को और अधिक उद्दीपत करे अथवा बढ़ा दे। अतः ऐसी स्थितियां जो उत्पन्न भाव को और अधिक तीव्र करें।

2) अनुभाव

अनु+भाव के संयोग से अनुभाव बना है। अनु का तात्पर्य है पीछे। अर्थात् विभावों के उपरांत जो भाव उत्पन्न हो वह अनुभाव है। विभाव के उपरांत जो भाव उत्पन्न होते हैं उनकी संख्या निश्चित नहीं है ये भावों की विभिन्नता के आधार पर बदलते रहते हैं। इसके भेद इस प्रकार है-

कायिक अनुभाव- जो व्यवहार अंगों की चेष्टाओं के रूप में हो। जैसे- आँख का मटकाना, भौंहों का कुटिल होना।

वाचिक अनुभाव - जो वाणी की उग्रता तथा मृदुता से उत्पन्न हो।

आहार्य अनुभाव - अभिनेता के द्वारा भाव को प्रकट करने के लिए भाव के अनुरूप धारण किये गये वेष-भूषा को आहार्य कहते हैं।

सात्विक अनुभाव - शरीर के स्वभाविक अंग विकार सात्विक अनुभाव कहे जाते हैं। जैसे- कंप, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्छा, स्वेद, विवर्णता आदि।

3) व्यभिचार या संचारी भाव

ये भाव स्थायी भाव की ओर चलते हैं। यह स्थायी भाव के सहकारी या सहायक तथा पोषक होते हैं। ये सभी रसों में संचरण करते हैं। संचारी भाव, स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुंचाते हैं। संचारी भाव जल के बुलबुले की तरह प्रकट होकर लुप्त हो जाते हैं। संचारी भावों की संख्या तैंतीस है। इनमें कुछ प्रमुख संचारी भाव हैं- निर्वेद, ग्लानि, असूया, आलस्य, मद, चिंता, मोह, स्मृति, हर्ष, गर्व, विषाद, निद्रा, स्वप्न आदि।

4) स्थायी भाव

स्थिर रहने वाला भाव स्थायी भाव कहलाता है। रस का आस्वादन होने तक जो भाव मन में स्थित रहते हैं। वे स्थायी भाव कहलाते हैं। हम मुख्य भाव को स्थायी भाव कह सकते हैं। स्थायी भाव जन्मजात होते हैं। यह सभी प्राणियों के अंतर में वास करते हैं। स्थायी भाव अन्य भावों द्वारा दबने वाले नहीं होते। वे जब तक मन में होते हैं। उन्हीं का प्राधान्य रहता है। स्थायी भाव अनुकूल कारण पाते ही स्वत: उत्पन्न होते

हैं, स्थायी भाव की कुल संख्या नौ है। प्रत्येक स्थायी भाव से संबंधित एक रस होता है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है-

रस	**स्थायी भाव**
श्रृंगार	रति (प्रेम)
वीर	उत्साह
रौद्र	क्रोध
अद्भुत	विस्मय
शांत	निर्वेद
हास्य	हास
भयानक	भय
करुण	शोक
वीभत्स	जुगुप्सा

इनके अतिरिक्त दो अन्य रसों की चर्चा भी की जाती है-

वात्सल्य	संतान विषयक
भक्ति	भगवत विषयक

अतः हम कह सकते हैं कि रस की पूर्ण निष्पत्ति में सभी रसांगों की अर्थात विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भाव की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

- **छंद**

कविता का छंद से अधिक संबंध है। प्राचीन समय में कविता के लिए छंदोबद्ध होना अनिवार्य था। किंतु आधुनिक समय में छंद कविता का अनिवार्य अंग नहीं माना जाता। इसीलिए आधुनिक युग में स्वच्छंद एवं मुक्त छंद नाम की कविता प्रचलित हो गयी। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि कविता छंद की मूल विशेषता लय से कोई संपर्क नहीं रखती। स्वच्छंद कविता का रूप भी छंद बद्ध ही है क्योंकि इसमें भी लय, गति और पाठ्य सौंदर्य का ध्यान रखा जाता है क्योंकि छंदों से ही कविता में संगीतात्मकता व लयात्मकता आती है। संगीत तथा लय से विभूषित काव्य मधुर होकरअद्भुत आनंद पहुंचाता है। निराला मुक्त छंद के समर्थक थे किंतु स्वयं उन्हीं की कविता मुक्त छंद होते हुए भी प्रवाह एवं लय के कारण छंदबद्ध है क्योंकि उसका प्रवाह ही छंद है। कोई भी काव्य छंद हीन हो ही नहीं सकता क्योंकि छंद मुक्त कविता में भी लय और गति होती है।

छंद के तत्व

छंद के तत्व है वर्ण, मात्रा, यति, गति, तुक, चरण, गण।

1. **वर्ण-** सभी स्वर और व्यंजन वर्ण या अक्षर कहलाते हैं।
2. **मात्रा-** किसी ध्वनि के उच्चारण में जो समय लगता है, उसकी सबसे छोटी इकाई को मात्रा कहा जाता है।
3. **यति-** छंद को पढ़ते वक्त जहां पर रुकना पड़ता है उसे यति कहते हैं।
4. **गति-** छंद को पढ़ने में जो एक प्रकार का प्रवाह होता है वह गति है।
5. **तुक-** छंद के चरण के अंत में जो एक समान वर्ण होता है उसे तुक कहते हैं।
6. **चरण-** छंद के टुकड़ों को चरण अथवा पद कहते हैं।
7. **गण-** तीन वर्णों का समूह गण कहलाता है लघु-गुरु के क्रम से गणों की संख्या आठ है।

छंद के भेद

1. मात्रिक छंद
2. वर्णिक छंद
3. मुक्तक छंद

मात्रिक छंद- जिन छंदों में मात्राओं की संख्या तथा क्रम आदि का नियम बताया जाता है। उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं। इनमें वर्णों की संख्या कम या ज्यादा हो सकती है किंतु प्रत्येक पंक्ति में मात्राएं उतनी ही।

मात्रिक छंद के भेद हैं- सममात्रिक छंद, अर्धमात्रिक छंद, विषममात्रिक छंद

प्रमुख मात्रिक छंद

दोहा- प्रथम और तृतीय चरण में 13 तथा द्वितीय एवं चतुर्थ में 11 मात्राएं होनी चाहिए।

"मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय,
जा तन की झाईं परै, स्याम हरित दुति होय।"[102]

सोरठा- यह दोहे का उल्टा होता है, इसके विषम चरणों में 11 और सम चरणों में 13 मात्राएं होती हैं।

रोला- इसके प्रत्येक चरण में 24 मात्राएं होती हैं तथा 11 और 13 पर यति रहती है।

"हे अवनी नवनीत, चोर चित चोर हमारे ,
राखे कतहु पुराय, बतावहु प्राण पियारे।"[103]

छप्पय- इस छंद में छः चरण होते हैं। प्रथम चार चरण रोला के होते हैं। अंतिम दो चरणों में पंद्रह और तेरह की गति से 28 मात्राएं होती हैं।

कुंडलिया- इसमें छः चरण होते हैं। प्रथम दो चरण दोहे के और अंतिम चार चरण रोला के होते हैं अर्थात इसके प्रत्येक चरण में 24 मात्राएं होती हैं। इस छंद का आरंभ और अंतिम शब्द एक ही होता है।

"तुकबंदी का बढ़ रहा, कविता में अतिजोर।
लगे नाचने मुर्ग भी समझ स्वयं को मोर।।
समझ स्वयं को मोर अर्थ तक नहीं जानते।
पढ़ औरों के गीत गर्व से रस बखानते।।
कहें 'कपिल' समझाय चल रही है दलबंदी
कविता होती आज हंस रही है तुकबंदी।।"[104]

हरिगीतिका- इसके प्रत्येक चरण में 28 मात्राएं होती हैं। सोलह और बारह मात्राओं पर यति होती है। चरण के अंत में लघु और गुरु वर्ण होता है।

चौपाई- इसके प्रत्येक चरण में 16 मात्राएं होती है अंत में दो गुरु होने से अधिक प्रवाह आता है।

राधिका - इसके प्रत्येक चरण में 22 मात्राएं होती हैं तेरह और नौ मात्राओं पर यति होती है।

वर्णिक छंद- जिन छंदों में वर्णमाला के आधार पर और उनके लघु गुरु के क्रम का नियम बताया जाता है। उन्हें वर्णिकछंद कहते हैं। वर्णिक छंद के

प्रकारहैं - सवैया, द्रुतविलंबित, प्रमाणिकता, शालिनी, वसंततिलका, मालिनी, कवित्त, घनाक्षरी, रूपघनाक्षरी, देवघनाक्षरी आदि।

मुक्तक छंद- मुक्तक छंद सर्वप्रथम हरिऔध जी की रचनाओं में आया इसके बाद सियाराम शरणगुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, अनूप शर्मा, गिरधर शर्मा, लोचन प्रसाद आदि द्वारा इसका प्रचार और प्रसार हुआ। वैसे इस छंद के सफल एवं सर्वप्रथम प्रभावित कवि निराला है। छायावाद युग में इसका नाम इस क्षेत्र में सबसे आगे मिलता है। इसके बाद दूसरे कवि है पंत जी। किंतु निराला मुक्त छंद को वर्णिक छंद के अनुरूप ढाल रहे थे और पंत मात्रिक रूप में। इस प्रकार मुक्त छंद उक्त दोनों प्रकार के छंदों के आधार पर विकसित हुआ।

उदाहरण-

वह तोड़ती पत्थर,

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर -

वह तोड़ती पत्थर **-निराला**

पंत के मात्रिक छंद का एक उदाहरण इस प्रकार है -

"ताक रहे हो गगन ?

मृत्यु - नीलिमा - गहन गगन ?

अनिमेष, आचितवन, काल नयन ?

नि:स्पंदन, शून्य निर्जन, नि:स्वन ?

देख भू को।

हरित मोहित

पल्लवित मर्मरित

कुंजित गुंजित

कुसुमित

भू को। ”[105] **-पंत**

अतः हम कह सकते हैं कि कविता में छंदों का महत्व भावों की अभिव्यक्ति को स्पष्ट और तीव्र करने के लिए, कविता में सजीवता लाने के लिए, कविता में रमणीयता तथा सौंदर्य की प्रतिष्ठा के लिए, रस निष्पत्ति में योगदान के लिए, प्रेषणीयता के लिए तथा कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा व प्रभावोत्वादक के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इन दृष्टियों से कविता में छंदों का महत्त्व बढ़ने के साथ उसमें संगीतात्मक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और इसका काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

- **अलंकार**

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है- सुशोभित करने वाला। काव्यशास्त्र में भारतीय काव्य संप्रदायों में रस के अतिरिक्त सबसे पुराना अलंकार संप्रदाय ही है। आचार्य भरतमुनि ने काव्य में रस को महत्व देते हुए

उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलंकारों की विवेचना की। तत्पश्चात काव्यात्मा संबंधी विचारों का आरंभ हुआ और अलंकार, ध्वनि, रस, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य संबंधी काव्य सिद्धांत सामने आए और इस तरह अलंकार भी काव्य के संप्रदाय के एक विशिष्ट रूप में सामने आया। अलंकार को काव्य की आत्मा घोषित करने का श्रेय सर्वप्रथम 'काव्यालंकार' के रचयिता 'भामह' (छठी शता.) को ही प्राप्त है। सामान्य से सामान्य वाक्य भी अलंकारों से विभूषित होकर एक विशेष अर्थ एवं सौंदर्य प्राप्त करता है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "काव्य की शोभा बढ़ाने वाले रस भाव आदि के उपकारक शब्द और अर्थ के जो धर्म हैं, वे गहनों की तरह अलंकार ही हैं"[106]

भामह का कहना है कि, "काव्य के रूपक आदि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुंदर मुख भी बिना आभूषण के नहीं सजता।"[107]

पंडित जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में काव्यात्मा के दृष्टिकोण से रमणीयार्थ लाने में अलंकारों को सहायक बताया है। वे कहते हैं-

"काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता प्रयोग जना अलंकारा:"[108]

अलंकारों के प्रकार

अलंकार तीन प्रकार के हैं-

1. शब्दालंकार
2. अर्थालंकार
3. उभयालंकार (शब्दार्थालंकार)

शब्दालंकार- इसमें अलंकार का सौंदर्य शब्द विशेष की ध्वनि और अर्थ पर आश्रित होता है। अर्थात जहाँ शब्दों के द्वारा चमत्कार होता है। शब्दालंकार के अंतर्गत अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति तथा श्लेष अलंकार आते हैं।

अर्थालंकार- अर्थालंकार का संबंध पूरे वाक्य के अर्थ से होता है, अर्थात् जहाँ अर्थ के कारण चमत्कार हो वहां अर्थालंकार होता है। शब्दालंकार में समानार्थी शब्द रखने पर चमत्कार समाप्त हो जाता है परंतु अर्थालंकार में वह चमत्कार समाप्त नहीं होता।

उभयालंकार- जहां शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं। वहां उभयालंकार होता है।

शब्दालंकार

- **अनुप्रास अलंकार-** जहां एक ही वर्ण की आवृत्ति बार-बार होती है। जैसे-

" मुग्ध मन मादक स्वरों से
चकित चित्रित चौगुणा था।"[109]

अनुप्रास अलंकार के भेद-

छेकानुप्रास- जहाँ अनेक व्यंजनों की स्वरूप और क्रम से एक बार आवृत्ति हो।

श्रुत्यानुप्रास- जहाँ एक ही उच्चारण स्थान से उच्चारित होने वाले वर्णों की कई बार आवृत्ति हो।

वृत्यानुप्रास- जहाँ एक या एक से अधिक वर्णों की आवृत्ति एक या अनेक बार हो।

लाटानुप्रास- जहाँ एक अर्थ वाले पदों अथवा वाक्यों की आवृत्ति हो।

अन्त्यानुप्रास- जहाँ पद्य के चरण के अंत में एक या अनेक स्वर व्यंजनों की आवृत्ति हो।

- **यमक अलंकार-** जिस अलंकार में शब्दों की आवृत्ति बार-बार होती है किंतु उनके अर्थ में भिन्नता होती है। जैसे- 'तीन बेर खाती थी वो तीन बेर खाती है'

- **श्लेष अलंकार-** जहां कोई शब्द एक ही बार प्रयुक्त हो किंतु प्रसंग भेद में उसके अर्थ एक से अधिक हो। वहां श्लेष अलंकार होता है। जैसे-

'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानस चून।'

- **वक्रोक्ति अलंकार -** वक्रोक्ति का अर्थ है- टेढ़ी उक्ति। अर्थात् बात को घुमा फिरा कर कहना। जहां किसी वाक्य में वक्ता के आशय से भिन्न अर्थ की कल्पना की जाती है। उसके भी दो प्रकार हैं-

1. काकु वक्रोक्ति
2. श्लेष वक्रोक्ति

वक्रोक्ति में किसी बात का अर्थ काकू या श्लेष में बदल दिया जाता है। जैसे-

"मैंने कहा, प्रिय जाओ मत बैठो।

वह भोली समझी कि 'जाओ, मत बैठो।"[110]

अर्थालंकार

- **उपमा-** जहां एक वस्तु की किसी दूसरी वस्तु के साथ किसी गुण, धर्म अथवा स्वरूप के कारण समानता दिखायी जाती है। वहां पर उपमा अलंकार होता है अर्थात् समीप रखकर दो पदार्थों को तथा वस्तुओं को तोलना। जैसे -

'पीपर पात सरिस मन डोला'

उपमा के चार तत्व हैं-

1. **उपमेय-** जिसकी तुलना की जाए, जैसे उक्त उदाहरण 'पीपर पात सरिस मन' में मन उपमेय है।

2. **उपमान-** जिस वस्तु की उपमा दी जाती है उसे उपमान कहते हैं जैसे 'पीपर पात' उपमान है।

3. **साधारण धर्म-** उपमेय उपमान की जिस गुण से तुलना की जाए।

4. **वाचक शब्द-** उपमेय और उपमान की समानता प्रकट करने वाले शब्द कहलाते हैं। उपमा अलंकार में निम्न वाचक शब्द पाए जाते हैं। जैसे सरिस, समान, सा, से, सी, आदि वाचक शब्द है। उपमा अलंकार के प्रमुख तीन भेद हैं-

1. पूर्णोपमा
2. मालोपमा
3. लुप्तोपामा

- **रूपक अलंकार-** इसमें उपमेय और उपमान का केवल सादृश्य ही नहीं दिखाया जाता बल्कि दोनों को एक ही बना दिया जाता है या फिर हम कह सकते हैं कि उपमेय को उपमान ही रूप दे दिया जाता है। जैसे

-'बीती विभावरी जाग री।

अम्बर पनघट में डुबो रही

तारा-घट ऊषा नागरी

यहां अंबर को पनघट का, तारों को घट का तथा उषा को नागरी का रूप दे दिया गया है।

रूपक अलंकार के भी भेद हैं-

1. सांगरूपक
2. निरंगरूपक

- **उत्प्रेक्षा अलंकार-** उपमा और रूपक के बीच उत्प्रेक्षा की स्थिति है। उपमा की भांति इसमें न केवल उपमेय और उपमान का सादृश्य बताया जाता है और न ही रूपक की भांति दोनों को एकाकार कर दिया जाता है। इसमें केवल उपमान की कल्पना मात्र की जाती है। जैसे- 'मुख मानो चंद्र-सा'

उपमा- मुख चांद-सा सुंदर

रूपक- मुख चंद्र के सौंदर्य का क्या कहना

उत्प्रेक्षा- मुख मानो चांद है

उत्प्रेक्षा के भी भेद किए गए हैं। जैसे-

1. वस्तुप्रेक्षा
2. हेतुत्प्रेक्षा
3. फलोत्प्रेक्षा

- **अतिशयोक्ति अलंकार-** जहां पर लोक सीमा का अतिक्रमण करके वस्तु अथवा विषय का वर्णन होता है। वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इसमें विषय वस्तु का निरूपण इस तरह किया जाता है कि वह वास्तविकता से बहुत दूर चला जाता है। इसके भी अनेक भेद हैं- रूपकातिशयोक्ति, कारणाति-शयोक्ति आदि।

- **दीपक अलंकार-** इनमें उपमेय और उपमान दोनों के एक से गुणों का आख्यान होता है।

- **प्रतिवस्तूपमा अलंकार-** दीपक अलंकार की भांति उपमेय और उपमान के समान गुणों की चर्चा होती है, किंतु दीपक में दोनों के लिए एक से ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है -

"सिंह सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी?
क्या पर-नर का हाथ कुल स्त्री कभी धरेगी ।"[111]

- **व्यतिरेक अलंकार -** जहाँ उपमेय को उपमान से भी अधिक उत्कृष्ट बताया जाए उसे व्यतिरेक अलंकार कहा जाता है।

- **विरोधाभास अलंकार-** जहां पर किसी पदार्थ गुण अथवा क्रिया में विरोध दिखाई पड़े किंतु वास्तव में विरोध ना हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है,

"अवध को अपनाकर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया ,
भरत ने अनुराग से,
भवन में वन का व्रत लिया।"[112]

यहाँ दो बातों में विरोध दिखाई देता है। प्रभु रामचंद्र ने अवध का त्याग कर भी लोगों के दिलों मे बसे हुए हैं। वन को तपोवन-सा बना दिया है और उनसे अधिक प्रेम होने के कारण भरत ने राजभवन को वन

जैसा बना दिया। इस प्रकार बाहरी तौर पर दोनों में विरोध दिखाई देता है लेकिन वास्तव में इनमें विरोध नहीं है। अत: विरोधाभास अलंकार है।

- **संदेह अलंकार-** इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि जहाँ संदेह हो वहां संदेह अलंकार होता है। अर्थात् जहां पर किसी वस्तु को देखकर साम्य के कारण दूसरी वस्तु का संशय होता है पर निश्चय नहीं होता।

'सारी बीच नारी है, कि नारी बीच सारी है
कि नारी ही की सारी है, कि सारी ही की नारी है।'

- **भ्रांतिमान अलंकार-** सादृश्यता के कारण जहाँ रूप, रंग और कर्म से एक वस्तु से किसी अन्य वस्तु की भ्रांति हो अथवा भ्रम हो।

"समझी तुम्हें घनश्याम
नाच उठे बन मोर"[113]

उभयालंकार (शब्दार्थालंकार)- जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का मिश्रण हो वहां उभयालंकार होता है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि काव्य में प्रत्येक अलंकार का विषयानुकूल प्रयोग कर काव्य की शोभा को चमत्कृत किया जाता है। अलंकार काव्य की शोभावृद्धि करते हैं किंतु काव्य की आत्मा का पद नहीं ले सकते वे काव्य के सहायक होते हैं तथा अभिव्यक्ति पक्ष के प्रतिनिधि हैं, इसलिए काव्य में उनका निर्विवाद महत्व है किंतु उनका महत्व रस,

ध्वनि, गुण, रीति और औचित्य के अनंतर है। वे काव्य के साधन मात्र हैं। इसी रूप में उनका स्थान स्वीकार्य है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का अलंकार के विषय में कहना है कि- "मैं अलंकारों के महत्व को भूल नहीं सकता क्योंकि अलंकारों ने काव्य कौशल के बहुत से ऐसे भेद खोले हैं जो अन्यथा अवशिष्ट रह जाते हैं।"[114]यह स्पष्ट है कि काव्य में अलंकार का महत्व है।

- **ध्वनि सिद्धांत**

काव्य संप्रदाय में ध्वनि संप्रदाय का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि ध्वनि सिद्धांत ने अपने भीतर रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि सभी काव्य सिद्धांतों के मूल तत्वों का समावेश किया हुआ है। आनंदवर्धन द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' इस का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ है। ध्वनि संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। अर्थ ध्वनि ही ध्वनि सिद्धांत का आधार माना गया है और अर्थ ध्वनि को समझने के लिए शब्दों के विभिन्न रूपों, अर्थों और अर्थ का बोध कराने वाले व्यापारों को समझना जरूरी है। "शब्द का मूल अर्थ है 'ध्वनि'....शब्द का संबंध 'शब्द' धातु से (शब्द+घञ्) जिसका अर्थ है 'शब्द करना', 'ध्वनि करना' या 'बोलना' आदि।"[115]ध्वनि सिद्धांत को सामूहिक रूप से समझने के लिए अर्थ व्यापारों और शब्द-शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

क्योंकि ध्वनि सिद्धांत शब्द शक्तियों के आधार पर ही निर्मित है। ध्वनि का संबंध व्यंजना शक्ति से है।

शब्द-शक्ति

ध्वनि का संबंध मुख्यत: शब्द शक्तियों से होता है। शब्द शक्तियां तीन प्रकार की हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इसे ही वाचक, लक्षक और व्यंजक कहा गया है। अर्थ व्यापार के आधार पर इन्हें वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहा गया है।

अभिधा - जिस शक्ति के कारण शब्द का सीधा संबंध रखने वाला अर्थ प्रकट हो उसे अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं। इससे शब्द के मुख्यार्थ का बोध होता है।

लक्षणा - मुख्यार्थ में बाधा हो और अन्य अर्थ प्रकट हो वहां लक्षणा शब्द-शक्ति होती है। इसे अच्छी तरह से समझने के लिए इसके तीन लक्षणों को देखेंगे-

I. मुख्यार्थ की बाधा अर्थात जहां लक्षणा शक्ति होगी वहां वाक्य वाच्यार्थ लागू नहीं होगा।

II. दूसरा लक्षण है वह भिन्न अर्थ होना चाहिए जो लागू होता है वह बिल्कुल ऊपर से थोपा हुआ भी नहीं होना चाहिए, उसका वाच्यार्थ से कोई न कोई संबंध होना चाहिए।

III. तीसरा लक्षण यह है कि जिस भिन्न अर्थ का प्रयोग किया जाता है। वह या तो परंपरा के निर्वाह के कारण या फिर किसी विशेष प्रयोजन से किया जाता है।

व्यंजना- अभिधा और लक्षणा से भिन्न अर्थ प्रकट करने वाली शक्ति व्यंजना है। अर्थात जब अभिधा और लक्षणा अपने-अपने अर्थों का बोध करा शांत हो जाती है। तब व्यंग्यार्थ का बोध होता है। जिसे व्यंजना शब्द-शक्ति कहा गया है। व्यंग्यार्थ को ही ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपयार्थ भी कहते हैं। इसके दो प्रधान भेद हैं- शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना।

डॉ. भोलाशंकर व्यास ने व्यंजना शक्ति के बारे में बड़े स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कहा है- "जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किंतु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देती है।"[116] व्यंजना शक्ति को ध्वनि संप्रदाय में सर्वाधिक महत्व प्राप्त है।

ध्वनि का काव्य में महत्त्व

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक 'आनंदवर्धन' ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए लिखा है -

"यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ,

व्यक्त: काव्य विशेष: स ध्वनिरीति सूरिभि कथित:"[117]

अर्थात् जहां अर्थ या शब्द अपने अभिधात्मक अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को ध्वनित करता है, उसे विद्वानों ने ध्वनि कहा है। इसका अर्थ यह भी है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान) अर्थ तो होता ही है, परंतु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं, उस प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्वपूर्ण होना आवश्यक है। सौंदर्य के आधार पर ही व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुंदर हो वहीं ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा।

व्यंजना की प्रधानता के आधार पर ध्वनि-सिद्धांत के अंतर्गत काव्य के तीन भेद किए गए हैं- ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ऐसा काव्य जहाँ की व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम सुंदर हो तथा वह वाच्यार्थ का अंग बन जाता हो उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है।

चित्र काव्य वह है जहाँ व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है। काव्य की ये तीन श्रेणियां उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के काव्य को सूचित करती है।

आनंद वर्धन ने अपनी रचना 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि सिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया और ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। ध्वनि के आधारभूत तत्व व्यंजना को मानते हुए अभिधा और लक्षणा दोनों शब्द-शक्तियों को माना है। और इसी के आधार पर इन्होंने ध्वनि के दो भेद किए हैं अभिधाध्वनि और लक्षणाध्वनि आनंदवर्धन ध्वनि

काव्य को ही उत्तम काव्य मानते हैं तथा अलंकार, रस, रीति आदि सभी के मूल में ध्वनि को ही स्वीकार करते हैं।

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' नामक ध्वन्यालोक की टीका लिखी जो अत्यधिक लोकप्रिय रही। इस ग्रंथ द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ध्वनि-वादियों की व्यंजना शक्ति ही रस को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखती है। क्योंकि रस, भाव आदि का बोध व्यंग्य रूप में ही हुआ करता है। इन्होंने रस की सम्यक पुष्टि के ध्वनि सिद्धांत को महत्व दिया और सिद्ध किया कि रस वाक्य ना होकर व्यंग्य होता है। ये ध्वनि सौंदर्य से युक्त रसात्मक काव्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि सिद्धांत को विशेष महत्व दिया हालांकि वे एक रसवादी आचार्य थे किंतु ध्वनि सिद्धांत के वह प्रबल पक्षधर रहे। क्योंकि ध्वनि सिद्धांत के सभी विरोधियों का उन्होंने विद्वतापूर्ण खंडन किया। मम्मट को 'ध्वनि स्थापन परमाचार्य' कहा जाता है। मम्मट का कहना था कि रस अभिधा से वाच्य नहीं हो सकता जहां विभावादि का चित्रण हो वही रसानुभूति होती है। अतः उनके इस मत से स्पष्ट है कि रस प्रतीती के लिए व्यंजना का अस्तित्व मानना आवश्यक है। इन्होंने व्यंजना शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया।

ध्वनि के भेद

ध्वनि सिद्धांत के दो भेद किए गए हैं- लक्षणामूलक ध्वनि (अविवक्षित वाच्यध्वनि), अभिधामूल ध्वनि (विवक्षित वाच्यध्वनि)

जहाँ व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन का अभाव रहता है। वहां पर लक्षणामूल ध्वनि (अविवक्षित वाच्यध्वनि) होती है। ऐसे स्थलों पर व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है। इसीलिए इसे 'लक्षणामूला ध्वनि' भी कहते हैं। लक्षणामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं। 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि, अत्यंत विरस्कृत वाच्य ध्वनि।

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात वाच्यार्थ अभीष्ट हो तथा वह व्यंग्यनिष्ट हो वहां अभिधामूलक ध्वनि (विवक्षित वाच्य ध्वनि) होती है। इस ध्वनि के मूल में अभिधा होती है वह अभिधामूलक ध्वनि कहलाता है। इस के दो भेद हैं- संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि, असंलक्ष्यकक्रम व्यंग्य ध्वनि।

निष्कर्षत: काव्यभाषा के स्वरूप के अंतर्गत शास्त्रीय काव्यभाषा में हमने देखा कि काव्यभाषा भाषा का वह रूप है जिसका आधार सामान्य भाषा होती है। परन्तु सटीक चयन तथा भाषा के विधान या उपादनों जैसे अलंकार, शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति, रीति, दोष, छंद, प्रतीक, मुहावरे, बिम्ब, रस, ध्वनि, भेद, लक्षण, हेतु, प्रयोजन आदि का प्रयोग करने के बाद कवि काव्य सृजन करता है।

जिस प्रकार एक मिस्त्री अपने आंतरिक बिंबों को अपने संयोजन से इमारत बनाते समय सर्वप्रथम इमारत की नींव तैयार करता है। फिर उसके बाद पत्थर, रेती, सीमेंट आदि के उपयोग से इमारत का नवनिर्माण करता है। ठीक उसी प्रकार कवि भी नींव रूपी सामान्य भाषा को शास्त्रीय ढंग से अपनी कल्पना, अनुभूति, सृजनात्मकता आदि के द्वारा नया आयाम, नया अर्थ प्रदान कर परिष्कृत तथा सुसंपन्न बनाता है। काव्यभाषा का प्रभाव व्यापक और स्थायी होता है क्योंकि यह सर्वाधिक तीव्र माध्यम से कार्य करती है। यह प्रयोगधर्मी तथा रचनात्मक होती है। यह सामान्य भाषा, परिनिष्ठित भाषा, बोलियों, अन्य भाषा यहाँ तक की विज्ञान की शब्दावली का रचनात्मक प्रयोग करती है। यह प्रतीकात्मक होने के साथ-साथ बिम्बात्मक भी होती है। काव्यभाषा के बहुत से शब्द अपने मूल अर्थ से हटकर एक अतिरिक्त अर्थ प्रदान करते हैं। वैसे तो कवि किसी न किसी उद्देश्य से काव्यभाषा का सृजन करता है जैसे संवेदना के प्रति भाषा, दर्दीली संवेदना की भाषा आदि अंतर केवल शब्दावली और उपादानों का होता है। चूँकि मेरा शोध विषय राष्ट्रीय कविता की भाषा का अध्ययन है इसलिए मैंने आगे राष्ट्रीय काव्यभाषा की विवेचना की है।

- **राष्ट्रीय काव्य की भाषा**

राष्ट्रीयता की भावना शौर्य, पराक्रम और तेज से समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में बांधकर रखने की क्षमता रखती है। विशेष परिस्थिति अनुरूप जब साहित्यकार अपने काव्य में जोशभरी, उमंग, उत्साह तथा ओजपूर्ण शब्दावली का प्रयोग कर जनसाधारण को अपने काव्य के माध्यम से जागृत करने का प्रयास करता हैं तो ऐसी भाषा को राष्ट्रीय काव्य भाषा कहते हैं। राष्ट्रीयता जैसी उदात्त प्रवृत्तियों का पोषण तथा उत्कर्ष राष्ट्रीय साहित्य के द्वारा ही होता है। राष्ट्रीय साहित्य मूलतः मानवतावादी ही होता है। राष्ट्रीय साहित्य में संपूर्ण राष्ट्र की चेतना विकसित होती है। राष्ट्र शब्द अपने आप में अत्यंत व्यापकता समाहित किए हुए है। इसकी व्यापकता के कारण ही हम राष्ट्रीय काव्य का विभाजन नहीं कर सकते क्योंकि राष्ट्रीयता एक भावना है और भाव कभी सीमित नहीं होते। जिस प्रकार भक्ति के अनेक स्वरूप उसी प्रकार राष्ट्रप्रेमी की भी अलग-अलग अनुभूतियां होती है। जब फिर चाहे वह कवि हो या साधारण मनुष्य।

परंतु मुख्य रूप से “राष्ट्रीय संवेदना से कवि की भाषा के तीन स्तर बनते हैं - ओजमयी भाषा, निराशा की भाषा और व्यंग्यमयी भाषा।”[118]

जब भारत में अंग्रेजों का आगमन होता है तो भारतेंदु हरिश्चंद्र अपनी कविता ‘भारत दुर्दशा’ के माध्यम से भारत के गौरवपूर्ण अतीत, वर्तमान

की दुर्दशा और सुनहरे भविष्य के लिए अतीत और वर्तमान की तुलना करते हुए कहते हैं कि-

‘अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी..

...हा ! हा: भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उपर्युक्त पंक्तियों में निराशा की अभिव्यक्ति है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी भारतीयों को अतीत की याद दिलाकर भविष्य के लिए सचेत करने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति में कवि की अभिव्यक्ति भी वातावरण के अनुकूल हो जाती है।

कवि राष्ट्रीय कविता में ओजपूर्ण भाषा का उपयोग ऐसे समय पर करता है। जब उसे समाज में जन-जागरण को प्रेरित करना होता है या उमंग और उत्साह से आगे बढ़कर संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना होता है। ऐसे में भारत के गौरवमय अतीत की भी कवि याद दिलाता है। ‘माखनलाल चतुर्वेदी’ द्वारा रचित ऐसी ही एक ओजपूर्ण कविता है ‘जवानी’। जिसमें वे भारतीय युवाओं को प्रेरित करते नजर आते हैं-

“रक्त है या है नसों में क्षुद्र पानी,

जांच कर तू सीस दे दे कर जवानी,

वह कली के गर्भ से, फल-

रूप में अरमान आया।

देख लो मीठा इरादा, किस

तरह, सिर तान आया।

डालियों ने भूमि रुख लटका

दिए फल, देख आली।

मस्तकों को दे रही

संकेत कैसे, वृक्ष डाली

फल दिये या सिर दिये तरु की कहानी,

गूँथ कर युग में, बताती चल जवानी!"[119]

उपरोक्त कविता की में माखनलाल चतुर्वेदी जी अपनी ओजस्वी और तेजस्वी युक्त वाणी से युवाओं और नौजवानों को संबोधित करते हैं। वह उन्हें मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए प्रेरित करते हैं। अपनी ओजपूर्ण भाषा से वह युवकों में क्रांति का संचार करते हैं। वे कहते हैं मैं जिधर भी नजर घुमाता हूं सब गतिशील नजर आते हैं तो फिर हे जवानी तू कैसे ठहर सकती है। वे नवयुवकों को आलस्य त्यागने को कहते हैं तथा फल और वृक्ष के माध्यम से मन में बलिदान का संकल्प लेकर सिर गर्व से ऊपर उठाने की भावना जागृत करते हैं। उनका कहना है यदि युवाओं तुम्हारा खून लाल नहीं तो तुम्हारे मुख पर ओज नहीं। इस तरह वह अपनी कविता के माध्यम से दृढ़ संकल्प लेकर युवाओं को देश के लिए मर मिटने की भावना को प्रेरित करने का प्रयास करते हैं।

हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय काव्यभाषा का स्वरूप राष्ट्र पर ही आधारित होती है। ऐसा काव्य जन-साधारण को आंदोलित करता है। उनके नैतिक मूल्यों को जागृत कर उनमें साहस भरता है। ऐसे काव्य का सृजन देश हित के लिए किया जाता है। अतः राष्ट्रीय काव्यभाषा का समाज, देश विशेषतः स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। तत्कालीन सच्चे राष्ट्रीय प्रेमी ही या राष्ट्रीय प्रतिनिधि ही ऐसे काव्य को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण काव्य की रचना जिन्होंने किया है, उनके प्रमुख नाम हैं- मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रख्यात माखनलाल चतुर्वेदी जी की 'पुष्प की अभिलाषा', 'जवानी', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', दिनकर की 'हिमालय' आदि।

- **कवि का व्यक्तित्व और भाषा का संबंध**

समाज में जन्म लेने का अर्थ ही व्यक्ति होता है। परंतु "कवि शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जो सामान्य कोटि के मनुष्य से अपनी प्रथम श्रेणी रखता है"[120] वहीं रामधारी सिंह 'दिनकर' जी अपनी काव्य की भूमिका में कवि के बारे में कहते हैं कि "कवि आकाश से टपका हुआ प्राणी नहीं होता है। शिक्षा-दीक्षा, संगीत और संस्कार के कारण ही उसका उद्भव और विकास होता है तथा औरों को सिखाने के पूर्व उसे स्वयं भी बहुत कुछ सीखना पड़ता है। कवि की अनुभूतियां और कवि

के ज्ञान जीवन के तपस्या कुंज से आते हैं।"[121]कवि के व्यक्तितत्व और उसकी भाषा का विशेष संबंध होता है। कवि अभिव्यक्ति के लिए जिस माध्यम का प्रयोग करता है, वह साधारण बोलचाल की भाषा नहीं होती वह काव्य भाषा होती है क्योंकि कवि में "शब्दार्थमयी रचना के सृजन की सहज शक्ति निहित है। अतः उसकी रचना 'काव्य' कहलाती है। कवि और काव्य की परंपरा उस क्षण से प्रादुर्भूत हुई है। जिस क्षण से मनुष्य ने अपनी कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के बल पर अपनी नैसर्गिक संवेदनाओं को भाषा के एक विशिष्ट स्वरूप में ढाला और जो केवल उसी की आत्मसंतुष्टि का विषय न रहकर संपूर्ण मानवीय संवेदनाओं के साथ जुड़ गई। 'अहं' (व्यष्टि) और 'इदं' (समष्टि) को एक सूत्र में बांधने का यह कार्य भाषा रूपी सेतु ने किया, अतः कवि की अभिव्यक्ति 'कविहि अरथ आखर बल साँचा' बन कर प्रस्तुत हुई।"[122] हम कह सकते हैं कि कवि और कवि के व्यक्तितत्व का संबंध काव्य तथा समाज दोनों से ही है। क्योंकि एक-दूसरे पर निर्भर रहना या स्वयं के लिए निर्भर होना दोनों ही जीवन और समाज के लिए महत्वपूर्ण तत्व है। एक साधारण व्यक्ति की भांति ही कवि की सारी गतिविधियां समाज में संचालित होती हैं क्योंकि व्यक्तितत्व का विकास समाज में रहकर ही होता है। व्यक्तितत्व के विकास के कुछ मूल आधार हैं-

1. कुल या कुटुंब
2. विरासत या धरोहर
3. संस्कार

कुल का संबंध जन्म से होता है इसके कुल की परंपरा, पारिवारिक (माता-पिता) गुण जैसे रक्त संबंधी आदि उसके अंतर्गत आते हैं। विरासत या धरोहर का संबंध परिवार व समाज दोनों से है। जिसके अंतर्गत उसके मानसिक गुण विकसित होते हैं और संस्कार तो व्यापकता का विषय है यह बौद्धिकता का विकास करता है। अतः हम देख सकते हैं कि व्यक्तित्व का पोषण किस प्रकार से होता है। व्यक्तितत्व विशेष गुणों का सम्मुच्य होता है। इन गुणों में मानव की शारीरिक, मानसिक सत्ता और सामाजिक वातावरण का समावेश होता है। कवि अपने अपनी युगीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति सदैव साहित्य के द्वारा करता है। जिसका माध्यम भाषा होती है और भाषा का प्रयोग कवि अपने व्यक्तित्व के अनुसार करता है। इस विषय में 'सर आर्थर क्विलर थाउस' का कहना है कि "अमुक कवि का कार्य इसलिए अच्छा है कि उसमें उसके व्यक्तित्व की गंभीर अभिव्यक्ति है, छाप है। यही नहीं सर आर्थर क्विलर थाउस का निश्चित मत भी है कि प्रत्येक ईमानदार व्यक्ति अपने कार्यों पर अपने कुछ न कुछ चरण चिह्न छोड़ जाता है। जिनके द्वारा ही उसके कृतित्व का निरालापन पहचाना जाता है अथवा कृतित्व में निहित उसके निजत्व की

व्याख्या संभव होती है।"[123] और यही कारण है कि हिंदी साहित्य में कवियों को उपनाम प्रदान किया जाता रहा है क्योंकि उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की अभीष्ट छाप होती है। कवि की अभिव्यक्ति में ऐसी शक्ति होती है कि वह एक साधारण झोपड़ी में बैठे-बैठे भी स्वर्ग की कल्पना कर सकता है। इसलिए कहा भी गया है कि 'जहाँ न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि' यह कहावत इस बात को चरितार्थ करती है कि कवि की भाषा में ऐसी शक्ति होती है जो साधारण जन को प्रभावित करती है। काव्यशास्त्र में इसे ही काव्यकला कहा गया है। कोई भी रचना जब जन-साधारण को प्रभावित करती है तो वहां साधारणीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और कवि की रचना सफल कहलाती है।

अतः अंत में हम कह सकते हैं कि कवि सदैव स्वयं और समाज से जुड़कर ही कोई भी कार्य करता है। वह भाषा के माध्यम से ही अपने जीवन के संचित अनुभव और भावनाओं को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि की रचना में इसका व्यक्तित्व दृष्टिगत होता है। एक सफल कवि सदैव अपनी कृति के माध्यम से ही साहित्य जगत में शौर्य प्राप्त करता है। अतः हम बिना संकोच किए यह कह सकते हैं कि कवि की अभिव्यक्ति का सीधा संबंध उसके व्यक्तित्व से होता है।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति, भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2008, पृ. सं. -30
2. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति, भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-31
3. जोशी श्रीकांत, माखनलाल चतुर्वेदी: यात्रा पुरुष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र.सं.-1969, पृ. सं.-416
4. नगेन्द्र, आधुनिक हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृतियां, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. सं.-19
5. जैन शेखरचंद्र, राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला, प्र.सं.-1973, पृ. सं.-01
6. थरेजा पुष्पा, भारतेंदु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्र.सं.-1978, पृ. सं.-11
7. तिवारी रामखिलावन, माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व और काव्य, अनुसन्धान प्रकाशक, कानपुर, 1966, पृ. सं.-18
8. महाले सुभाष, माखनलाल चतुर्वेदी और वि. दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, सं.-1997, पृ. सं.-25

9. ठाकुर कवीश्वर, हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, सं.-2009, पृ. सं.-38

10. ठाकुर कवीश्वर, हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, सं.-2009, पृ. सं.-38

11. कलवड़े सुधाकर शंकर, आधुनिक हिंदी की कविता में राष्ट्रीय भावना, पुस्तक संस्थान, कानपुर, प्र.स.-1973, पृ. सं.-17

12. तिवारी अर्जुन, पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास, जयभारती प्रकाशन, प्र.सं.- 2000, पृ. सं.-19

13. कलवड़े सुधाकर शंकर, आधुनिक हिंदी की कविता में राष्ट्रीय भावना, प्र.स.-1973, कानपुर, पुस्तक संस्थान, पृ. सं.-17

14. तिवारी अर्जुन, पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास, जयभारती प्रकाशन, प्र.सं.- 2000, पृ. सं.-20

15. पाण्डेय रजनीकांत, कौटिल्य अर्थशास्त्र में सत्ता एवं राजनीति, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्र.सं.-1990, पृ. सं.-1

16. पथिक देवराज, नई कविता में राष्ट्रीय चेतना, कादम्बरी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.-1985, पृ. सं.-24

17. महाले सुभाष, माखनलाल चतुर्वेदी और वि. दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, सं.-1997, पृ. सं.-28

18. हिंदी विश्वकोश, भाग-23, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्र.सं.-2011, पृ. सं.-8418
19. कलवड़े सुधाकर शंकर, आधुनिक हिंदी की कविता में राष्ट्रीय भावना, कानपुर, प्र.स.-1973, पुस्तक संस्थान, पृ. सं.-20
20. पथिक देवराज शर्मा, हिंदी की राष्ट्रीय काव्यधारा का समग्र अनुशीलन, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, प्र.सं.-1979, पृ. सं.-21
21. तिवारी अर्जुन, पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास, , जयभारती प्रकाशन, प्र.सं.- 2000, पृ. सं.-19
22. थरेजा पुष्पा, भारतेंदु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली प्र.सं.-1978, पृ. सं.-12
23. थरेजा पुष्पा, भारतेंदु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली प्र.सं.-1978, पृ. सं.-14
24. शुक्ला सन्नी, IJCRT, volume 8, Issue 12 December 2020, ISSN: 2320-2882, page-1677
25. मालवीय सौरभ, रमाशंकर, मीडिया मीमांसा अप्रैल-जून 2018, पृ. सं.-30
26. मालवीय सौरभ, रमाशंकर, मीडिया मीमांसा अप्रैल-जून 2018, पृ. सं.-30
27. सुनीति, दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ. सं.-04

28. ठाकुर कवीश्वर, हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, सं.-2009 पृ. सं.-40
29. कालभोर गोपीनाथ, राष्ट्रवादी चिन्तक माखनलाल चतुर्वेदी, जवाहरलाल पुस्तकालय, प्र. सं.-2000, पृ. सं.-01
30. तिवारी अर्जुन, पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास, जयभारती प्रकाशन, प्र.सं.- 2000, पृ. सं.-21
31. साकरिया भूपतिराम, महाप्राण निराला, कन्हैयालाल पंडया, प्र.सं.-2002, पृ. सं.-72
32. साकरिया भूपतिराम, महाप्राण निराला, कन्हैयालाल पंडया, प्र.सं.-2002, पृ. सं.-73
33. विरमाल पंकज, हिंदी पत्रकारिता और राष्ट्रीय चेतना, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.-2017, पृ. सं.-20
34. पाण्डेय रजनीकांत, कौटिल्य अर्थशास्त्र में सत्ता एवं राजनीति, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्र.सं.-1990, पृ. सं.-164
35. कालभोर गोपीनाथ, राष्ट्रवादी चिन्तक माखनलाल चतुर्वेदी, जवाहरलाल पुस्तकालय, प्र. सं.-2000, पृ. सं.-2
36. तिवारी अर्जुन, पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय चेतना का विकास, जयभारती प्रकाशन, प्र.सं.- 2000, पृ. सं.-24
37. मृणालिनी उषा, गीतिकाव्य में राष्ट्रीय भावना, सुनील प्रकाशन, अजमेर, पृ. सं.-9

38. रायगुलाब, राष्ट्रीयता, संस्करण-1961, पृ. सं.-02

39. मंत्रीज्योति ना, राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में भारत के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त एवं मारीशस के राष्ट्रकवि डॉ. ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर' के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्र.सं.-2012, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, पृ. सं.-147

40. विरमाल पंकज, हिंदी पत्रकारिता और राष्ट्रीय चेतना, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.-2017, पृ. सं.-20-21

41. ओझा नर्मदेश्वर, राष्ट्रीयता सांस्कृतिक अवधारणा, संस्कृतप्रसार परिषद, विहार, प्र.सं.-1999, पृ. सं.-147

42. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति, भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-108

43. शुक्ल आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, सुधा पब्लिकेशंस, जयपुर, संवत-1997, पृ. सं.-325

44. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति, भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-116-117

45. तलाटी रमणलाल न.,सोहनलाल द्विवेदी का काव्य, चिंता प्रकाशन, राजस्थान, प्र.सं.-1988, पृ. सं.-20

46. थरेजा पुष्पा, भारतेंदु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली प्र.सं.-1978, पृ. सं.-24

47. खान खुर्शीद आलम, देशभक्ति आन्दोलन में मैथिलीशरण गुप्त का योगदान, अंकित पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र.सं.-2010, पृ. सं.-24
48. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नविन संस्करण-2003, पृ. सं.-564
49. जैन शेखरचंद्र, राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला, जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर, प्र.सं.-1973, पृ. सं.-5
50. तिवारी रामखिलावन, माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व और काव्य, 1966, अनुसन्धान प्रकाशक, कानपुर, पृ. सं.-19
51. तिवारी रामखिलावन, माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व और काव्य, अनुसन्धान प्रकाशक, कानपुर, 1966, पृ. सं.-20
52. मधोक बलराज, हिंदु राष्ट्र, भारतीय साहित्य सदन, दिल्ली, तृतीय सं.-1971, पृ. सं.-27
53. ठाकुर कवीश्वर, हिंदी साहित्य में राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, सं.-2009, पृ. सं.-23
54. तामसकर गोपाल दामोदर, कौटिल्य अर्थशास्त्र-मीमांसा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, पृ. सं.-21
55. मधोक बलराज, हिंदु राष्ट्र, भारतीय साहित्य सदन, दिल्ली, तृतीय सं.-1971, पृ. सं.-38-39
56. नारायण पांडेय, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिंदी साहित्य में अभिव्यक्त, हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली, प्र.सं.-1996, पृ. सं.-15

57. तिवारी रामखिलावन, माखनलाल चतुर्वेदी: व्यक्तित्व और काव्य, अनुसन्धान प्रकाशक, कानपुर, 1966, पृ. सं.-22

58. सिंह निहाल गुरुमुख, भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, सं.-1952, पृ. सं.-136

59. शुक्ल रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, पांचवा सं., संवत-2006, पृ. सं.-78

60. तिवारी उदयनारायण, वीर काव्य, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र. सं.-संवत् 2005 वि., पृ. सं.-279

61. कालभोर गोपीनाथ, राष्ट्रवादी चिन्तक माखनलाल चतुर्वेदी, जवाहरलाल पुस्तकालय, प्र. सं.-2000, पृ. सं.-52

62. जैन शेखरचंद्र, राष्ट्रकवि दिनकर और उनकी काव्यकला, जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर, प्र.सं.-1973, पृ. सं.-69

63. सम्पादित (धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, ब्रजेश्वर शर्मा, हिंदी साहित्य, प्रयाग, भारतीय हिंदी परिषद्, प्र.सं.-1969, पृ. सं.-200

64. कौशिक जगदीश प्रसाद, काव्य एवं काव्य रूप, ग्रन्थ विकास, जयपुर, प्र. सं.-1987, पृ. सं.-2

65. शुक्ल रामचंद्र, काव्य मीमांसा, अग्रवाल प्रेस, प्रयाग, प्र.सं.-1931, पृ. सं.-3-4

66. शुक्ल रामचंद्र, काव्य मीमांसा, प्रयाग, अग्रवाल प्रेस, प्र.सं.-1931, पृ. सं.-04

67. शुक्ल रामचंद्र, काव्य मीमांसा, प्रयाग, अग्रवाल प्रेस, प्र.सं.-1931, पृ. सं.-03

68. कालड़ा नीलम, भवानी प्रसाद मिश्र की काव्यभाषा का शैली वैज्ञानिक अध्ययन, अनुराग प्रकाशन, प्र.सं.-1995, पृ. सं.-39

69. शर्मा मनीषा एवं गुप्त जगदीश, काव्य सिद्धांत एवं सृजन, मनु प्रकाशन, पृ. सं.-127

70. कुमार विभुमौली, काव्यभाषा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2005, पृ. सं.-12

71. कुमार विभुमौली, काव्यभाषा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.-2005, पृ. सं.-13

72. चतुर्वेदी रामस्वरूप, मध्यकालींन हिंदी काव्यभाषा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1974, पृ. सं.-15

73. मम्मट, काव्यप्रकाश, साहित्य भंडार, मेरठ, तृतीय सं.-1970, पृ. सं.-24

74. मिश्र भागीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पंचम सं.-1902, पृ. सं.-18

75. अग्रवाल निशा, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 11वां सं.-2018, पृ. सं.-38

76. अग्रवाल निशा, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 11वां सं.-2018, पृ. सं.-39

77. चौधरी सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र सुबोध विवेचन, अलंकार प्रकाशन, सं.-2015, पृ. सं.-287

78. चौधरी सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र सुबोध विवेचन, अलंकर प्रकाशन, सं.-2015, पृ. सं.-289

79. मिश्र भागीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं. पृ. सं.-16

80. चौधरी सत्यदेव, भारतीय काव्यशास्त्र सुबोध विवेचन, अलंकार प्रकाशन, सं.-2015, पृ. सं.-291

81. मिश्र भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं. पृ. सं.-11

82. मिश्र भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं. पृ. सं.-11

83. मिश्र भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं. पृ. सं.-11

84. मिश्र भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं. पृ. सं.-13

85. इंगले जलिंदर, सुबोध काव्यशास्त्र, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-72

86. मिश्र रामदहिन, काव्य दर्पण, ग्रंथमाला कार्यालय प्रकाशन, पटना, प्र.सं.-1970, पृ. सं.-324

87. सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-121

88. कठौरिया कृष्णा, रीतिमुक्त कवि बोधा की काव्यभाषा का अध्ययन, शोध प्रबंध, 1997, कानपुर, पृ. सं.-48

89. इंगले जालिंधर, सुबोध काव्यशास्त्र, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-75-76

90. मिश्र रामदहिन, काव्य दर्पण, ग्रंथमाला कार्यालय प्रकाशन, पटना, प्र.सं.-1970, पृ. सं.-330

91. तिवारी बद्रीनाथ, काव्यशास्त्र के विविध सोपान, प्र.सं.-2015, इलाहाबाद, जयभारती प्रकाशन, पृ. सं.-121

92. इंगले जालिंधर, सुबोध काव्यशास्त्र, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2008, पृ. सं.-77

93. श्री निवासशास्त्रीणा, मम्मटाचार्यविरचित काव्यप्रकाश, साहित्य भंडार, मेरठ, तृ.सं.-1970, पृ. सं.-281

94. इंगले जालिंधर, सुबोध काव्यशास्त्र, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-78

95. इंगले जालिंधर, सुबोध काव्यशास्त्र, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-78-79

96. सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-143
97. तिवारी बद्रीनाथ, काव्यशास्त्र के विविध सोपान, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-88
98. मिश्र भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, उ. प्र., 28वां सं., पृ. सं.-235
99. वाघमरे पी. एम., भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2014, पृ. सं.-35
100. देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-94
101. देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-94
102. सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-155
103. देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-87
104. सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-155
105. सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-157-158

106.देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-66

107.गुप्त गणपतिचन्द्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-100

108.सिंह विजयपाल, भारतीय काव्यशास्त्र, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-86

109.देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-68

110.गुप्त गणपतिचन्द्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-103

111.गुप्त गणपतिचन्द्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-205

112.देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-76

113.देशमुख मधुकर, सुबोध काव्यशास्त्र, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2015, पृ. सं.-79

114.वाघमरे पी. एम., भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं.-2014, पृ. सं.-77

115.तिवारी भोलानाथ, शब्दों का अध्ययन, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.-1969, पृ. सं.-9

116.गुप्त गणपतिचन्द्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.-2009, पृ. सं.-41

117.मिश्र भगीरथ एवं तिवारी बलभद्र, काव्यांग विवेचन, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं.-1976, पृ. सं.-98

118.दुबे सुरेन्द्र, दिनकर की काव्यभाषा का संरचनात्मक अध्ययन, शब्द और शब्द, दिल्ली, प्र.सं.-1981, पृ. सं.-88

119.चतुर्वेदी माखनलाल, हिमकिरीटिनी, इलाहाबाद, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, द्वि.सं. पृ. सं.-113

120.शर्मा वेंकेट, रस अलंकार, छंद तथा अन्य काव्यांग, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-XI

121.दिनकर रामधारी सिंह, काव्य की भूमिका, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, वर्तमान सं.-2013, पृ. सं.-143

122.शर्मा वेंकेट, रस अलंकार, छंद तथा अन्य काव्यांग, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, प्र.सं.-1998, पृ. सं.-XI

123.सिंह रामकुमार, आधुनिक हिंदी काव्यभाषा, ग्रन्थम प्रकाशक, कानपुर, 1965, पृ. सं.-176